Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

**संस्थापक–सम्पादक**
यशदेव शल्य

# उन्मीलन

**मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक**

**सम्पादक**
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

वर्ष 40, अंक 1
जनवरी-जून, 2026

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वर्ष 40, अंक 1 जनवरी–जून, 2026

# उन्मीलन

## मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
## दार्शनिक षाणमासिक

संस्थापक–सम्पादक
**यशदेव शल्य**

सम्पादक
**अम्बिकादत्त शर्मा**
**प्रदीप कुमार खरे**

**दर्शन प्रतिष्ठान**
जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

## परामर्श-मण्डल

1. **अशोक वाजपेयी**, सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
2. **नवजीवन रस्तोगी**, बी–202, स्टर्लिंग अपार्टमेंट, 9–विश्वविद्यालय मार्ग, लखनऊ–226007
3. **अशोक वोहरा**, सी–748, विकासपुरी, नई दिल्ली–110018
3. **अभय कुमार दुबे**, 7–सनब्रीज अपार्टमेंट, टावर–1, सेक्टर–5, वैशाली, गाजियाबाद–201010

## संस्थापक-सम्पादक

**यशदेव शल्य**

## सम्पादक

1. **अम्बिकादत्त शर्मा**, बी–31/80ए–एस–2एन–आर, भोगावीर, नरिया, लंका, वाराणसी–221005, दूरभाष 09406519498
2. **प्रदीप कुमार खरे**, आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal)

प्रकाशित रचनाओं के अभिमत से 'उन्मीलन' के प्रकाशकों या सम्पादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है। 'फ्लेजिरिज्म सम्बन्धी शुचिता की जिम्मेदारी लेखक की है।

कमलनयन एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा **दर्शन प्रतिष्ठान**, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# अनुक्रमणिका

1. भारत–बोध : एक एपोफेटिक कार्ययोजना 5
*अभय कुमार दुबे*

2. भारत–बोध के अन्यथा संस्करणों के बीच भारतीयता की आत्मगवेषणा 40
*अम्बिकादत्त शर्मा*

3. 'स्व और अन्य' की दार्शनिक समस्या : परम्परा और उत्तर–औपनिवेशिकता के सन्दर्भ में निर्मल वर्मा के भारत बोध का वैचारिक विश्लेषण 56
*पंकज श्रीवास्तव*

4. आचार्य प्रद्योत कुमार मुखोपाध्याय का विवेकानन्द–पाठ और भारतीयता की आत्मगवेषणा 108
*राजन*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

## लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| 1. | संगीत और चिन्तन<br>(शंकर पुरस्कार से सम्मानित) | – | मुकुंद लाठ | 100.00 |
| 2. | धर्म–संकट | – | मुकुंद लाठ | 200.00 |
| 3. | कर्म–चेतना के आयाम | – | मुकुंद लाठ | 250.00 |
| 4. | क्या है?क्या नहीं है? | – | मुकुंद लाठ | 150.00 |
| 5. | मूल्यतत्त्व–मीमांसा<br>(शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित) | – | यशदेव शल्य | 200.00 |
| 6. | चिद्विमर्श | – | यशदेव शल्य | 175.00 |
| 7. | तत्त्व–चिन्तन | – | यशदेव शल्य | 200.00 |
| 8. | चित् की आत्म–गवेषणा | – | यशदेव शल्य | 250.00 |
| 9. | काव्य–विमर्श | – | यशदेव शल्य | 250.00 |
| 10. | मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं | – | यशदेव शल्य भगवती | 150.00 |

11. यशदेव शल्य की सभी मौलिक कृतियों का संग्रह अब 'यशदेव शल्य समग्र' शीर्षक से चार खण्डों में उपलब्ध है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य 1,600/– तथा चारों खण्डों का मूल्य 6,400/– है।

प्रकाशक :– डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., वेदश्री, एफ– 395, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली–110015, दूरभाष 011–25453975

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# भारत-बोध : एक एपोफेटिक कार्ययोजना

**अभय कुमार दुबे**

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में
दिये गये दो व्याख्यानों पर आधारित लेख

I

एक चिंतन–योग्य विषय के रूप में भारत–बोध का एकदम शुरुआती साक्षात्कार मुझे 1995 में हुआ। उन दिनों मैं पत्रकारिता करता था, लेकिन विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) के कुछ विद्वानों के साथ सम्पर्क भी था। ऐसे ही एक विद्वान हैं प्रोफेसर योगेंद्र यादव जिनसे आज तक मित्रता चली आ रही है। उन्होंने मेरा परिचय एक राजनीतिशास्त्री से कराया, जिनका नाम सुनील खिलनानी था। उस समय वे लंदन के किसी कॉलेज में पॉलिटिकल साइंस पढ़ा रहे थे। योगेंद्र ने मुझे बताया कि सुनील की एक किताब आजकल काफी लोकप्रिय हो रही है। उस किताब का शीर्षक है – आइडिया ऑफ इंडिया। इतना कह कर उन्होंने इसके हिंदी अनुवाद का प्रस्ताव रख दिया। मैंने थोड़ा उलट–पलट कर देखा तो लगा कि वास्तव में खिलनानी की यह रचना हिंदी में आनी चाहिए। उसके बाद मैंने सात–आठ महीने लगा कर उसका अनुवाद किया। 'भारतनामा' के नाम से वह किताब प्रकाशित हुई। पॉलिटिकल साइंस के छात्रों और सभी तरह के गम्भीर पाठकों ने वह हिंदी अनुवाद हाथोहाथ लिया। लम्बे अरसे तक दिल्ली विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए संदर्भ पुस्तक बनी रही। सुनील खिलनानी की यह किताब भारत–बोध के नेहरूवादी मर्म की नुमाइंदगी करती थी। नेहरू का भारत–बोध क्या है? संक्षेप में कहा जाए तो यूरोपियन प्रबोधन से निकली धारणाओं में थोड़ी सी प्राचीन भारतीय प्रज्ञा का छोंक लगा कर नेहरू ने अपना भारत–बोध तैयार किया था। इसी आधार पर नेहरू ने प्रगति, वैज्ञानिक मानस, उद्योगवाद और प्रौद्योगिकी–निर्भरता, सेकुलरवाद, शहरीकरण और उदारतावादी दलीय लोकतंत्र द्वारा बनने वाली सत्ता के इर्दगिर्द अपना पूरा भविष्य–स्वप्न रचा। वे प्रधानमंत्री थे, बहुत दिन तक रहे। इस स्वप्न को उन्होंने धरती पर उतारने की कोशिश भी



CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



की। लेकिन, हम जानते हैं कि यह स्वप्न नेहरू की इच्छानुसार परवान नहीं चढ़ा। अगर वह परवान चढ़ भी जाता और बीसवीं सदी उसकी सफलता की सदी होती, तो पिछले 70–80 साल में हम लोग पूरे तौर पर यूरोप की एक प्रतिकृति बन कर रह जाते।

भारत–बोध के बारे में चिंतन की दूसरी प्रेरणा मुझे तब मिली जब मैंने यू.आर. अनंतमूर्ति से बातचीत की। वे कन्नड़ के महान साहित्यकार थे। मैंने उनके उपन्यास पढ़े थे। उनके उपन्यास 'संस्कार' पर बनी फिल्म भी मैंने देख रखी थी। वे विकासशील समाज अध्ययन पीठ की संचालक परिषद् के सदस्य थे। वैसे भी वे वहाँ आते–जाते रहते थे। अध्ययन पीठ में ही उनसे मेरी एक–दो बार अनौपचारिक चर्चा हुई। उसके बाद भारतीयता क्या है? शीर्षक से उनकी एक पुस्तक हिंदी में प्रकाशित हुई। मैंने पाया कि अनंतमूर्ति एक खास तरीके से भारतीयता की व्याख्या करने की कोशिश करते हैं। वे ब्राह्मण और शूद्र का विभाजन तैयार करते हैं। उनके लिहाज से यह सीधे–सीधे दिमागी और जमीनी के बीच का विभाजन है। उसके बाद वे अग्रभूमि और पृष्ठभूमि का विभाजन तैयार करते हैं। यह वर्चस्वकारी और स्थानीय के बीच का एक विभाजन है। इस तरह वे कोशिश करते हैं कि परम्परा के भीतर जाकर एक इनसाइडर क्रिटिक के तौर पर परम्परा को सम्बोधित करें, उसे समझने की कोशिश करें। एक व्याख्यान में मैंने उन्हें कहते हुए सुना कि जिस तरह गांधी परम्परा के इंसाइडर क्रिटिक थे, उसी तरीके से मैं भी परम्परा का इनाइडर क्रिटिक बनना चाहता हूँ, लेकिन उनकी इस बौद्धिक कवायद में एक बुनियादी अंतर्विरोध था। मैंने उनके साथ इस अंतर्विरोध पर चर्चा भी की, लेकिन उन्होंने इसका कोई जवाब नहीं दिया, मुस्कराकर वे यह बात टाल गये। मैंने उनसे कहा था कि जब वे अपना विचार–साहित्य लिखते हैं तो ये सब बातें साफ तौर पर निकलकर आती हैं, लेकिन जैसे ही अपने कथा साहित्य में जाते हैं, कहानियाँ लिखते हैं, या उपन्यास लिखते हैं, वहाँ पर इस वैचारिकता का रचनात्मक साहित्य के जरिये मिल सकने वाला अनुभूतिजन्य आख्यान निकल कर नहीं आ पाता।

खिलनानी और अनंतमूर्ति के प्रकरणों के बाद मैं धीरे–धीरे स्वयं भारत–बोध के बारे में सोचने लगा। मुझे लगा कि मुझे किसी बाहरी प्रेरणा की आवश्यकता नहीं है। इस चिंतन का नतीजा यह निकला कि मैंने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


राजनीतिक दायरे में भारत–बोध की पाँच किस्मों की शिनाख्त कर डाली। इन किस्मों के समर्थक आज भी अपने–अपने भारत–बोध को संसाधित करने में लगे हुए हैं। इनमें एक भारत–बोध गांधी का है। एक है नेहरू का जिसकी मैं ऊपर चर्चा कर चुका हूँ। एक है मार्क्स का भारत–बोध जिसकी पैरोकारी तरह–तरह के वामपंथी करते रहते हैं। एक आम्बेडकर का भारत–बोध है। दलित वोटों के चक्कर में इसका दम आजकल वे लोग भी भरने लगे हैं जो किसी जमाने में आम्बेडकर से दूर रहना पसंद करते थे। और, पाचवाँ है सावरकर का भारत–बोध। इसकी गुजरे जमाने में तो कम चर्चा होती ही थी, और दिलचस्प बात यह है कि आज के जमाने में भी इस पर कोई गहन चर्चा नहीं होती है। आज देश की राजनीतिक प्रकृति में दक्षिणपंथी हिंदुत्ववाद का बोलबाला है। इस बदले हुए वक्त में सावरकर की चर्चा होनी चाहिए थी, लेकिन नहीं हो रही है। चूँकि भारत–बोध की ये किस्में राजनीतिक दायरे में सक्रिय हैं, इसलिए इनके विमर्श पर पर राजनीतिक गोलबंदी की जरूरतें बहुत हावी रहती हैं। एक विमर्श को स्वीकार करने और दूसरों को खारिज करने के आग्रह बहुत हैं। राजनीतिक दायरा दरअसल आपको विमर्शी संसार में प्रवेश ही नहीं करने देता। विमर्शी संकीर्णता भी बहुत है। पाँचों तरह के भारत–बोध और उनकी विमर्शी संरचनाएँ राजनीतिक कोलाहल में कहीं खो जाती हैं।

## II

कोई दस साल पहले जब मैं भारत में अंग्रेजी भाषा के वर्चस्व का इतिहास लिखने की तरफ बढ़ा, तो मुझे एक नये तरह के भारत–बोध का साक्षात्कार होने की सम्भावना दिखी। आजकल मैं इस भारत–बोध को समझने और इसके तात्पर्य–निरूपण की प्रक्रिया के पहले चरण में हूँ। इस चरण को मैं नकारात्मक की संज्ञा दूँगा। यह नकारात्मक वह नकारात्मक नहीं है जिसका जीवन में निषेध करके सकारात्मकता लाने की शिक्षा दी जाती है। यह नकारात्मकता तो ग्रीकदर्शन से ली गई नकारात्मकता है। ग्रीक दर्शन में इसको एपोफेटिक कहा गया है। इसका मतलब है कि कोई चीज क्या नहीं है, इसके जरिए उसका ज्ञान प्राप्त करना। हम जानते हैं कि जो क्रिश्चियन थियोलॉजी है उसने इस एपोफेटिक युक्ति का खूब इस्तेमाल किया है। ईश्वर क्या है, यह जानने के लिए क्रिश्चियन थियोलॉजिस्ट ईश्वर क्या नहीं है का सवाल उठाते हैं? इसका विलोम भी है जिसे कैटोफेटिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



कहते हैं। यानी, कोई चीज क्या है, इसे सकारात्मक तरीके से जानना। दोनों युक्तियों का ही इस्तेमाल हो सकता है। बहरहाल, मैं अभी भारत–बोध को समझने के जिस चरण में हूँ, मैं उसे एपोफेटिक ही मानता हूँ। इस युक्ति के जरिये मैं बताऊँगा कि आप किन–किन चीजों को भारत–बोध का संज्ञान करने में बाधक के तौर पर देख सकते हैं। अब मैं एक–एक करके दस बिंदु आपके सामने रखूँगा जिससे स्पष्ट हो जाएगा कि इन बिंदुओं के जरिये भारत–बोध को समझने से अगर अपने–आप को रोका जाए, तो उसकी वास्तविक संरचना की तरफ जाने का रास्ता ज्यादा अच्छी तरीके से खुल सकता है।

**पहला, परम्परा और आधुनिकता का संश्लेषण**

हमें अक्सर समझाया जाता है कि परम्परा और आधुनिकता का संश्लेषण किया जा सकता है, और यही करना श्रेयस्कर है। परम्परा को खारिज करने की बजाय उसका आधुनिकीकरण कीजिए। रजनी कोठारी से लेकर एम.एन. श्रीनिवास और योगेंद्र सिंह तक बड़े–बड़े समाज–वैज्ञानिक हमें यही सिखाते हैं। जब मैं समाज–विज्ञान के क्षेत्र में रंगरूट की तरह आया था तो इन्हीं लोगों को पढ़ कर–सुन कर, इन्हीं लोगों का संसर्ग करके, इनके साथ चाय पीते हुए मैंने बहुत सारा समाज–विज्ञान आत्मसात किया था। इन लोगों का एक बना–बनाया सिद्धांत है कि मॉडर्नाइजेशन ऑफ ट्रेडिशन की कोशिश करनी चाहिए। मैं समझता हूँ कि अगर हम परम्परा और आधुनिकता के संश्लेषण पर जोर देंगे और उसे ही भारत–बोध की तरफ जाने का रास्ता बनाएँगे तो आधुनिकता के दायरे में ही एक भारत–बोध खोजने की कोशिश करते रह जाएँगे। दरअसल, हम इस सिद्धांत को इस मासूमियत या गलतफहमी के तहत ग्रहण करते हैं कि ट्रेडिशन और परम्परा एक ही चीज है, और ये दोनों शब्द एक दूसरे के सहज पर्यायवाची हैं। हकीकत यह है कि ट्रेडिशन और परम्परा में ऐसा कोई अनुवादपरक संबंध नहीं हैं। दोनों पर्यायवाची नहीं हैं। इस वक्तव्य में आगे जा कर मैं दिखाऊँगा कि यह चक्कर क्या है।

**दूसरा, धर्म और विज्ञान के बीच समझौता**

यह एक बड़ी लोकप्रिय धारणा है कि धर्म और विज्ञान के बीच में एक समझौता किया जा सकता है। इस बात को इस तरह से भी कहा जाता है कि हिंदुओं की धर्म–दृष्टि पश्चिमी विज्ञान की तर्कपरकता के साथ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


समस्वर है। आवश्यकता तो बस उसके कुछ उदाहरणों को रेखांकित करने की है। सनातन धर्म के पौराणिक आख्यानों को समस्त विज्ञान का आधार मानने का आग्रह कौन करता है? आज भले ही यह सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के कुछ एक्टिविस्टों की दावेदारी लगती हो, लेकिन दरअसल यह एक ऐसी परिघटना है जिससे सामान्य जन के मन में बैठी एक आस्था को लगातार वाणी मिलती रही है। कैलेंडर आर्ट से लेकर पुराने जमाने की पौराणिक फिल्मों के अधकचरे स्पेशल इफेक्ट्स (ट्रिक फोटोग्राफी) पर और कल्कि 2898 एडी नामक सुपरहिट फिल्म में रचे गए नए जमाने के अश्वत्थामा, कर्ण और कल्कि अवतार तक यह लोकप्रिय विचार हमारी पॉप संस्कृति का अभिन्न अंग बना हुआ है। भारत–बोध के रूप में भले ही यह हमारे बुद्धिजीवियों को हास्यास्पद लगे, लेकिन इसकी लोकप्रियता की कोई सीमा नहीं है। अगर पहला सूत्र समाज–वैज्ञानिकों की देन था तो यह दूसरा सूत्र लोकप्रिय संस्कृति की देन है।

**तीसरा, हमें अपने रिनैसॉज और इनलाइटेनमेंट करने चाहिए**

अर्थात, अगर हम अपने रिनैसॉज (युरोपीय पुनर्जागरण) और एनलाइटेनमेंट (युरोपीय प्रबोधन) करने में कामयाब हो गए तो हमें इसके बाद पश्चिम की जरूरत ही नहीं पड़ेगी। इसके पीछे दलील यह है कि युरो–अमेरिकी ईसाइयत का ऐतिहासिक प्रभाव समाज–विज्ञानों पर देखा जा सकता है, लेकिन अंततः समाज–विज्ञान हमें एक तर्कपरक संसार में ले जाने के लिए डिजाइन किये गये हैं। जिस तरह युरोपीय प्रबोधन के उद्गम से फूटे समाज–विज्ञानों ने ईसाइयत की प्रत्यक्षता का अप्रत्यक्षीकरण कर दिया (ईसाइयत समाज और राज्य को नियंत्रित करने वाली शक्ति के रूप में पहले से भी अधिक प्रभावी हो गई, लेकिन उसे वैज्ञानिकता और तर्कपरकता के मुलम्मे में लपेट कर अग्रभूमि से ओझल कर दिया गया), उसी तरह से समाज–विज्ञानों द्वारा हमारे समाज के पुराण–प्रेरित विन्यास में रैशनलिटी का समावेश किया जा सकता है। प्रश्न यह है कि ऐसा करने का आग्रह ज्ञान के किस इतिहास की देन है? बुद्धिजीवी के तौर पर मेरा तो पूरा करियर ही बंगाल रिनैसॉज, हिंदी जाति का नवजागरण, भक्तिकाल का लोकजागरण, इंडियन रिनैसॉज जैसी प्रपत्तियों को सुनते–समझते गुजरा है। ये सभी रिनैसॉज और प्रबोधन की भौंड़ी या परिष्कृत कार्बन प्रतियाँ हैं। एक चीज है 'हिस्ट्रीरियोग्राफी ऑफ नॉलेज'। दुनिया में ज्ञान की मैन्यूफेक्चरिंग किन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



फेक्ट्रियों में हुई है, किन शर्तों पर हुई है, और उसका ज्ञानात्मक आधार क्या है–इसकी एक तैयारशुदा समझ जो हमें थमायी गयी है, उसी का परिणाम है यह सूत्र।

**चौथा, इनलाइटेनमेंट के मूल्यों को तो मानना ही होगा**

इस आग्रह को पश्चिमी सोशल थियरी की अनिवार्यता स्थापित करने के लिए गढ़ा गया है। इसके मुताबिक, कुछ भी कह लीजिए, कुछ भी कर लीजिए–इनलाइटेनमेंट के कुछ मूल्यों (जैसे, समानता, भाईचारा, अधिकार, सेकुलरवाद, स्त्री–स्वतंत्रता, मेहनतकशों की पूँजी के शोषण से मुक्ति, क्रांति का विचार) को तो मानना ही होगा। जैसे कि इन सभी विचारों को हम अपनी ज्ञान–परम्परा द्वारा संसाधित कर ही नहीं सकते। कहा यह जाता है कि हमारी परम्परा में बहुत सी खूबियाँ हो सकती हैं, पर इन बातों को तो हमें पश्चिम से सीखना ही होगा। जहाँ तक इनलाइटेनमेंट के इन मूल्यों का सवाल है–पश्चिम में बैठे हुए हमारे बौद्धिक आका बीच–बीच में हमें युरोपीय प्रबोधन की यह अनिवार्यता याद दिलाते रहते हैं। उनका तर्क होता है कि मंगोलों, शकों, हूणों, गॉलों, विसिगोठों और ऐसे ही बबरों का जमाना जा चुका है, लेकिन नये बर्बर कभी भी प्रगट हो सकते हैं। हाल ही में एरिक हॉब्सबॉम ने न्यूलेफ्ट रिव्यू में दावा किया है कि नये बर्बर वे होंगे जो युरोपीय प्रबोधन के मूल्यों का बेखटके अतिक्रमण करते हैं। मुझे याद नहीं पड़ता कि हॉब्सबॉम की इन बातों का किसी भारतीय इतिहासकार या किसी अन्य विद्वान ने खंडन किया हो। दरअसल, हॉब्सबॉम इस कथन में भारतीय बुद्धिजीवियों की मंशा की ही नुमाइंदगी करते दिख रहे हैं।

**पाचवाँ, बहुभाषिता इंडियननैस की गारंटी है**

भारत को बहुभाषी बनाये रखना भारतीयता या इंडियननैस की गारंटी है। यह वक्तव्य एकदम सही है, लेकिन इसमें दाँव यह मारा गया है कि अंग्रेजी का वर्चस्व बना रहना चाहिए और बहुभाषिता को भी बनाये रखना चाहिए। दिखाया कुछ इस तरह जाता है कि इसे रेखांकित करने से अंग्रेजी के प्रभुत्व और वर्चस्व द्वारा थोपी जा रही एकभाषिता की प्रवृत्तियों के खिलाफ मोर्चा खोला जा सकता है। यह तर्क इस हकीकत की तरफ आँख बंद कर लेता है कि बहुभाषिता बने रहने के बावजूद एंग्लिसाइजेशन होता रहता है और भारतीयता का ग्राफ नीचे की तरफ जाता रहता है। जहाँ तक बहुभाषिता और एकभाषिता के द्वंद्व का प्रश्न है, अभी महीना–भर भी नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


हुआ है, प्रोफेसर गणेश देवी ने अपने खुशगवार लहजे में इस प्रियोक्ति का इस्तेमाल किया है : इट इज इन इंडियाज मल्टीलिंगुअ करेक्टर दैट इंडियननैस कैन भी लोकेटिड। प्रोफेसर देवी यह बात 2025 में कहते सुनाई दे रहे हैं, लेकिन आनंद कुमारस्वामी ने हमें 1906 में 'एंग्लिसाइजेशन ऑफ ईस्ट' नामक परिघटना और उसके आधार पर चली प्रक्रिया और उसके नतीजों के बारे में विस्तार से बताया था। भारत का मल्टीलिंगुअल करेक्टर बना रहा, पर वह सिलसिला भी चलता रहा जिसका मर्म कुमारस्वामी ने इन शब्दों में परिभाषित किया था : वी हैव टु डील, नॉट विद द ड्यू इन्फ्लुएंस ऑफ वन सिविलाइजेशन अपॉन अनदर बट विद द ऑब्लिटरेशन ऑफ वन ऐंड इट्स रिप्लेसमेंट बाइ अनदर, ए प्रोसेस विच डज नॉट कंड्यूस टु द इनकरेजमेंट ऑफ व्हाट इज बेस्ट इन आइदर।

**छठा, मनुष्य अपनी दुनिया और इतिहास का निर्माता स्वयं होता है**

इसी बात को मार्क्सवादी सांस्कृतिक आंदोलन इस तरह पेश करता है कि क्रांति नये मनुष्य का निर्माण करती है। (रुत्खेर ब्रेख्मान ने मानवजाति का आशावादी इतिहास लिखते समय हमें बताया है कि अगर एडम स्मिथ ने मानवीय तर्कबुद्धि के जरिये पूँजीवादी लालच को एक गुण की तरह प्रतिष्ठित न किया होता, तो मनुष्य एक बेहतर दुनिया और इतिहास बना पाता)। यानी यह प्रेक्षण एकदम ठीक है, बस वह तो जरा सी गलती हो गई, वरना इनलाइटेनमेंट के गर्भ से ऐसा मनुष्य निकल ही पड़ता। बहरहाल, जब इस थमायी हुई बुद्धि का अनुपालन करते हुए हम यह कहते हैं कि मैन एज द क्रियेटर ऑफ हिज ओन वर्ल्ड एंड हिस्ट्री, तो हमें बेसाख्ता प्रोफेसर सरन की याद आ जाती है जो इस कथन को हमेशा डेविल्ज बारगेन या सेल्फग्राउंडिंग प्रत्यय की संज्ञा दिया करते थे। दरअसल, यह मानवकेंद्रीयता को स्थापित करने वाला आग्रह है जिससे उसके अतिशय प्रकार यानी एंथ्रोपोसेंट्रिजम के पैर जमते हैं और आज सारी दुनिया इससे पीड़ित है।

**सातवाँ, साहित्य और कला का क्षेत्र उपनिवेशित नहीं है**

यह एक प्रचलित दावा है कि साहित्य, कला, चित्रकारी और संगीत का क्षेत्र औपनिवेशिकता से प्रभावित नहीं है। गम्भीरता से यह भी कहा जाता है कि ऐसा कोई भी दावा दरअसल कॉमिकली रिडंडेंट है। साथ में यह भी कहा जाता है कि विज्ञान–प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में कोलोनाइजेशन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



का कोई इलाज नहीं है (अर्थात्, अब हमारे पास डिकोलोनाइज करने के लिए थियरी का एक बहुत छोटा सा दायरा ही बचा है)। हाल ही में एक पुस्तक–समीक्षा के जरिये वि–उपनिवेशीकरण का एक घोषणापत्र जैसा दस्तावेज भी आया है। इस घोषणापत्र में एक ऐसे समाज के आदर्श पर विचार नहीं किया गया है जो विज्ञान और प्रौद्योगिकी के धरातल पर कम विकसित होने पर भी श्रेयस्कर हो। ऐसे समाज की विमर्शी सम्भावना भी हमें गांधी के अलावा कहीं और नहीं मिलती। दूसरे, यह घोषणापत्र कला और साहित्य के इतिहास से सूचित होने के लिए तैयार नहीं लगता। वह नहीं जानना चाहता कि भारत में अंग्रजों के आने से पहले कला–शिक्षण के प्रारूप कैसे थे, और कलाकार की निर्मिति कैसे होती थी। इन प्रारूपों को किन परिस्थितियों में चलन के बाहर होना पड़ा। वह नहीं देखना चाहता कि 1852 में चार्ल्स ट्रेवेलियन ने जब मद्रास, कलकत्ता, बम्बई और लाहौर में चार आर्ट ऐंड डिजाइन स्कूल खोलने का प्रस्ताव किया, तो उसके बाद किस तरह पश्चिमी कला के औजारों से भारतीय विषय–सामग्री चित्रित करने वाले चित्रकारों की एक के बाद एक कई पीढ़ियाँ पैदा हुईं। ब्रिटेन में साउथ केन्सिंगटन के नैशनल आर्ट ट्रेनिंग स्कूल के पाठ्यक्रम पर आधारित ये चारों भारतीय स्कूल 1875 तक खुल चुके थे। जब यह प्रस्ताव किया गया तो राजा रवि वर्मा चार–पाँच साल के रहे होंगे। वे तो राजपरिवार के थे। वे हालैंड गये, और वहाँ पश्चिमी चित्रकला का प्रशिक्षण लिया। लेकिन, सूजा, रजा, आरा और हुसैन जैसे कई नामचीन्ह हस्ताक्षरों के रूप में आधुनिक भारतीय चित्रकारों की रचनाशीलता का उन्मेष जब हुआ, तो उस समय तक पश्चिमी कला–शिक्षण द्वारा डाली गई उस बुनियाद पर कलात्मकता के महल की ताबीर हो चुकी थी। यह तर्क देने वालों को मॉडर्निस्ट्स और प्रोग्रेसिव्ज के उस विद्रोह की जाँच करने की कोई दिलचस्पी नहीं है जो उन्होंने पारम्परिक कला–शिक्षण के खिलाफ किया था।

**आठवाँ, भारत के डबल कोलोनाइजेशन का सिद्धांत**

भारत एक बार नहीं, बल्कि दो बार उपनिवेशित हुआ है (एक बार उसे मुसलमानों ने उपनिवेशित किया, दूसरी बार ईसाइयों ने)। यह एक हाल ही में विकसित किया गया तर्क है। 'इंडिया दैट इज भारत' के लेखक जे. साई दीपक से लेकर एस.एन. बालगंगाधर जैसे वरिष्ठ और गुरु परम्परा में आने वाले चिंतकों द्वारा इसका प्रतिपादन किया जा रहा है। यह मामला है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


ही इस तरह का। इसका इस्लाम विरोधी और ईसाइयत विरोधी पहलू स्पष्ट लगता है। यहाँ तक कि जब मैं प्रोफेसर सरन को गांधी पर पढ़ रहा था, वहाँ भी यह बात निकल कर आ रही थी कि हिंदूपन को केवल वेस्टर्न रैशनलिजम से ही खतरा नहीं था, बल्कि वह ईसाई और इस्लामिक खतरे से पहले से ही जूझ रहा था। मेरे ख्याल से यह रुझान और भी पीछे जाता है। रामचंद्र शुक्ल जब हिंदी साहित्य का इतिहास लिख रहे थे तो उन्होंने भक्ति के उद्‌भव में इस्लामिक सत्ता से उपजे संताप को देखा था। प्रोफेसर सरन और उनके व्याख्याकार भी भक्ति के उद्‌भव में इस्लामिक संताप की भूमिका को देखते हैं। मेरे पिता जो स्वतंत्रता सेनानी होने के साथ–साथ हिंदी के मूर्धन्य विचारवान पत्रकार भी थे, वे भी बीच–बीच में इस फिकरे का इस्तेमाल करते रहते थे कि हम एक हजार साल से गुलाम हैं। मेरे विचार से यह एक बहुत गम्भीर सवाल है, क्योंकि हम सभी एकमत होंगे कि जिस भारत–बोध की तलाश में हमने यह गोष्ठी आयोजित की है, वह बारहवीं सदी (जब सल्तनत की स्थापना हुई थी) से पहले के भारत का बोध नहीं होगा। उसे तो आज के भारत का बोध होना होगा।

**नवाँ, बहुलवाद बनाम पुराणपंथी होना**

भारतीय समाज का बहुलतावादी और ग्रहणशील होना स्वागत योग्य है, पर इसका मतलब यह नहीं कि हम पुरातनपंथी होते चले जाएँ (आखिरकार बहुलतावाद और ग्रहणशीलता की खूबी पश्चिमी सोशल थियरी के जरिए अच्छी तरह से व्याख्यायित और प्रशंसित की जा सकती है)। भारतीय समाज की बहुलवादिता और ग्रहणशीलता के बारे में की जाने वाली चर्चाएँ मैंने सीएसडीएस में गुजारे गये बीस वर्षों में लगातार सुनी हैं। कोई छोटे–मोटे लोग नहीं, बल्कि आशिस नंदी और धीरूभाई शेठ जैसे मेरे गुरुओं के मुँह से ये बातें बड़े संतोष और तसल्ली के लहजे में निकलती रही हैं। वे इस भारतीय यथार्थ को एक तरह से भारत के देशज उदारतावाद की निर्मितियों के रूप में देखते रहे हैं। यानी, आप कह सकते हैं कि युरोप के पास ही उदारतावाद नहीं है, बल्कि हमारे पास भी उसके प्रोटो–इंडियन रूप हैं। भारतीय समाज पुराणों द्वारा निर्मित संरचना है, और इसीलिए वह बहुलतावादी और ग्रहणशील है। लेकिन यह द्विभाजन बहुलवाद और पुराण–प्रेरित समाज को एक–दूसरे के खिलाफ खड़ा कर देता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



**दसवाँ, डिलिंकिंग नामुमकिन है**

पश्चिमी ज्ञानात्मकता से डिलिंकिंग (वाल्टर मिन्योलो की थीसिस) की बातें अच्छी लगती हैं, पर अगर हमने स्वयं को पश्चिमी सामाजिक सिद्धांत से डिलिंक कर दिया, तो लिंक करने के लिए हमारे पास बचेगा ही क्या (अर्थात्, भारतीय परम्परा से निकली विपुल ज्ञानराशि की प्रासंगिकता के बारे में अभी ठीक से कुछ कहा नहीं जा सकता है। हमें कहीं न कहीं अपने–आप को लिंक करना ही पड़ेगा, और ज्ञान के बाजार में ज्ञान का एक ही रूप उपलब्ध है, वह है पश्चिमी ज्ञानात्मकता। उसके साथ लिंकिंग ही हमारा डिफॉल्ट लिंकेज है)। जहाँ तक डिलिंकिंग की थीसिस का सवाल है, अब तो यह काफी प्रचलित हो चुकी है। सबसे पहले 1985 में मिस्र के समाजशास्त्री समीर अमीन ने राजनीतिक और आर्थिक दायरे में इसकी पेशकश की। कुल मिला कर यह एक सीमित पेशकश ही थी। अमीन युरोकेंद्रीयता की आलोचना तो करते थे, लेकिन मार्क्सवाद और प्रकारांतर से आधुनिकता की मृगतृष्णा से उन्होंने पल्ला नहीं छुड़ा पाया था। वाल्टर मिन्योलो ने इस विचार को उठाया और ज्ञानात्मकता के दायरे में ले गए। उन्होंने पेरू के समाजशास्त्री एनिबाल किहानो द्वारा रचे गये डिकोलोनियलिटी के विचार से इसे जोड़ा और 2007 में डिलिंकिंग शीर्षक से एक अभूतपूर्व और लगभग पुस्तकाकार निबंध लिखा। इसमें अस्सी के दशक से तैयार किये जा रहे वि–उपनिवेशीकरण के विमर्श का बेहतरीन निचोड़ निकाला गया था।

उनके इस निचोड़ का निचोड़ अगर समझना हो तो मिन्योलो साफ तौर पर कहते दिखते हैं कि वि–उपनिवेशीकरण की कोशिशें तो बहुत हो चुकीं, लेकिन अभी तक तीन चीजों से एक साथ छुटकारा पाने का आग्रह नहीं किया गया है। और ये हैं, बाइबिल, एडम स्मिथ और कार्ल मार्क्स। यहाँ बाइबिल का मतलब सामान्य ईसाइयों की मजहबी और आध्यात्मिक आस्थाओं से नहीं है। यहाँ बाइबिल का मतलब उस मेटाडिस्कोर्स से है जिसके तहत युरो–अमेरिकी–ईसाइयत (जो पूर्वी और अन्य गैर–पश्चिमी समाज की ईसायत से भिन्न है) पश्चिमी सभ्यता की सांस्कृतिक और ज्ञानात्मक आधारशिला बन गई है। एडम स्मिथ का मतलब है पॉलिटिकल इकॉनॉमी का परिप्रेक्ष्य, जिसे मार्क्स उसकी आलोचना की प्रक्रिया के जरिये न केवल पूरी तरह से स्थापित करते हैं, बल्कि मानवीय जीवन के दूसरे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


प्रश्नों (जैसे संस्कृति का प्रश्न) को इसके मुकाबले दोयम दर्जे पर धकेल देते हैं। इस तरह उदारतावाद और समाजवाद के अपने घरेलू झगड़े को सारी दुनिया पर युरोकेंद्रीयता के जरिये प्रक्षेपित करके पॉलिटिकल इकॉनॉमी एक सुपर–मेटाडिस्कोर्स बन जाती है। पॉलिटिकल इकॉनॉमी बेस है, बाकी सब सुपरस्ट्रक्चर हैं।

III

अंग्रेजी भाषा और पश्चिमी सामाजिक सिद्धांत के वर्चस्व को मैं पिछले दस साल से एक समझौताहीन चुनौती देता रहा हूँ। मेरे इस रवैये से सीएसडीएस के मेरे मित्रगण कुछ परेशान रहे हैं। सीएसडीएस में अपने आखिरी पाँच वर्षों में जब भी मैं डिलिंकिंग के सवाल को अन्यान्य तरीकों से सामने रखता था, तो मुझसे जो कहा जाता था, वह आप लोगों को दिलचस्प लगेगा। मुझसे कहा जाता था कि उपनिवेशवाद के प्रभावों की आलोचना तो ठीक है, करनी चाहिए, हम लोग भी करते हैं, पर उसकी एक सीमा है। उसका अतिक्रमण मत कीजिए। वरना क्या होगा, जानते हैं? आप एक रिजेंटफुल पर्सनैलिटी बन जाएँगे। कोई बात नहीं, मेरा जो हश्र होना है या हो रहा है, वह सभी के सामने है। अब आगे बढ़ते हैं ... ...

दरअसल, ये दस बिंदु अपने स्रोत में एपोफेटिक नहीं, बल्कि कैटोफेटिक हैं। जिन विख्यात विद्वानों ने इन्हें दिया है उनके लिहाज से ये सकारात्मक सूत्र ही हैं। इन्हें एपोफेटिक या नकारात्मक रूप से मैंने ग्रहण किया है। इसका कारण बताते हुए मैं थोड़ा सा इन्हें और खोलूँगा। मैं इनकी मिलीजुली व्याख्या तीन की–वर्ड्स के जरिए करने की कोशिश करूँगा। पहला की–वर्ड है ट्रेडिशन, दूसरा है बहुभाषिता, और तीसरा है उपनिवेशन।

ट्रेडिशन को समझने के लिए हिंदी में हम परम्परा शब्द का इस्तेमाल करके संतुष्ट हो जाते हैं। जिस मासूमियत से हम इसका इस्तेमाल करते रहते हैं, उसे जरा छोड़ कर हमें इस पद को इतिहास की कसौटी पर कसना चाहिए। हम यकीन कर बैठे हैं कि हमारे पास एक ट्रेडिशन है, संस्कृति के रूप में, संस्कार के रूप में, रीति–रिवाज के रूप में, ज्ञान के रूप में और धर्म के रूप में। अगर इसका आँकड़ा किसी तरह से आधुनिकता के साथ बैठ जाए तो काम बन जाएगा। फिर हमें अपना भारत–बोध गढ़ने में आसानी होगी। हॉब्सबॉम ने अपने लेख में इतिहास के फलक पर जिन नये बर्बरों के निकल पड़ने के अंदेशों का जिक्र किया है, भारतीय समाज–

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



वैज्ञानिकों को विश्वास है कि वे उनमें शामिल नहीं हैं, न हो सकते हैं। आखिर उनके इस विश्वास का कारण क्या है। असल में इसके पीछे धारणा यह है कि जिन के पास ट्रेडिशन होती है, वे बर्बर नहीं होते। तो क्या युरोपियन उन्हें अपने समकक्ष मान लेते हैं? नहीं। युरोपियनों ने उनके लिए एक अलग श्रेणी बनायी है जो प्रिमिटिव की है। इमानुएल वालरस्टीन के मुताबिक ऐसे समाजों का अध्ययन करने के लिए उपनिवेशकों ने एंथ्रोपोलोजी या मानवशास्त्र और ओरिएंटलिजम या प्राच्यशास्त्र जैसे अनुशासनों का विकास किया है। जो प्रिमिटिव लोग सभ्यता के धरातल पर ज़्यादा पिछड़े हुए हैं उनका अध्ययन एंथ्रोपोलोजी के जरिये होता है और जो किसी जमाने में युरोपियनों से भी आगे बढ़े हुए थे, लेकिन कालांतर में जिनकी सभ्यता का पतन हो गया, उनका अध्ययन वे ओरिएंटलिजम के जरिये करते हैं। भारत उनके इस खाते में दूसरी श्रेणी में आता है।

प्रिमिटिव की यह श्रेणी उपनिवेशकों ने अठारहवीं सदी में तैयार की थी। उस समय वे दक्षिण एशिया में अपने विस्तार की शुरुआत कर रहे थे। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी और डच ईस्ट इंडिया कम्पनी की आपसी प्रतियोगिता चल रही थी। वाल्टर मिन्योलो बताते हैं कि ठीक उसी समय बर्बर का दक्षिण एशिया के संदर्भ में अनुवाद प्रिमिटिव के रूप में किया गया। आधुनिकता के विमर्शी रणनीतिकारों को लगा कि वे मॉडर्निटी को अगर मध्ययुगीन बर्बरता के बरक्स ही परिभाषित करते रहेंगे, तो वे उन समाजों के उपनिवेशन की संहिताएँ कैसे तैयार कर पाएँगे जिनका मध्ययुग डार्क या अंधकारपूर्ण नहीं था, और जिनके पास उन्हें व्याकरणसम्मत, भाषा, साहित्य, दर्शन, कला और राज्यशास्त्र की कम से कम एक हजार साल की समृद्ध परम्पराएँ दिख रही थीं। ये समाज अफ्रीकी और अमेरिकी समाजों से भिन्न थे। इसलिए आधुनिकता के समग्र कथानक के दायरे के भीतर इन्हें फिक्स करने के लिए ट्रेडिशन की श्रेणी का आविष्कार किया गया।

परम्परा तो हमें सहज उपलब्ध थी। उसे इन्वेंट करने की जरूरत नहीं थी। पर ट्रेडिशन को इन्वेंट किया जाना था, फिर हमें थमाया जाना था। इस काम को नियोजित तरीके से कम से कम डेढ़–दो सौ साल तक किया गया। आविष्कार करके भारत समेत सभी एशियायी समाजों और उनकी इन्वेंटिड ट्रेडिशन को आधुनिकता के भीतर, लेकिन उसकी बाहरी कक्षा में जिसे मॉडर्निटी का एक्सटीरियर कहा गया है, वहाँ स्थापित किया गया।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


एक भव्य हिंदू ट्रेडिशन, एक बौद्ध ट्रेडिशन और एक सिख ट्रेडिशन इन्वेंट की गई। इस मुकाम पर एक और कारीगरी की गई। भारतीय इस्लाम को इस ट्रेडिशन के दायरे से बाहर कर दिया गया। इस मामले में विलियम जोंस का एजेंडा स्पष्ट था। फारसी का यह विद्वान तय करके आया था कि वह केवल मुसलमानों के आने से पहले के भारत का ही अध्ययन करेगा। जैसे ही हमने इस इन्वेंटिड ट्रेडिशन को थामना स्वीकार कर लिया, वैसे ही एनलाइटनेमेंट के साथ हमारा किसी न किसी तरह का समीकरण लाजिमी तौर पर तय हो गया। मिन्योलो के अनुसार–ट्रेडिशन इज नॉट अ वे ऑफ लाइफ दैट प्रिडेट्स मॉडर्निटी, बट एन इन्वेंशन ऑफ द रेटरिक ऑफ मॉडर्निटी। स्पष्ट है कि हमारा पूरा समाजशास्त्र और राजनीति विज्ञान इसी इन्वेंशन के मुताबिक भारत–बोध रचने में लगा हुआ है। यह काम नेहरू युग में शुरू हुआ और अभी तक बेरोकटोक जारी है। चाहे उदारतावादी हों, मार्क्सवादी हों या हिंदुत्ववादी, सब कुछ आधुनिकता की शर्तों के मुताबिक ही कर रहे हैं। थोड़ा भाषा–शैली या प्राथमिकताओं का अंतर जरूर है। चाहे मॉडर्निटी ऑफ ट्रेडिशन को रेखांकित करना हो, चाहे राजनीतीकरण के जरिये आधुनिकीकरण की थीसिस हो, चाहे संस्कृताइजेशन का विचार हो, चाहे धर्म और विज्ञान के बीच एक रैखिक संबंध तलाशने की कोशिशें हों, चाहे सनातन की श्रेष्ठता स्थापित करने का रेटरिक हो।

अब आइए बहुभाषिता पर। मैंने ऊपर बताया कि भारत की समृद्ध बहुभाषिता ही वह बुनियादी अंतर था जिसके दबाव में उपनिवेशिकों को बर्बर की जगह एक नया पद प्रिमिटिव लाना पड़ा। इतिहास के धरातल पर आधुनिकता को उसकी आधारशिला मुहैया कराने वाली ग्रीको–रोमन ज्ञानमीमांसा के साथ बर्बरों की ज्ञानमीमांसाओं का एक ही समय में सह–अस्तित्व था। प्रिमिटिवों के साथ उसका सह–अस्तित्व नहीं हो सकता था, क्योंकि वे उस जमाने से पहले के थे, जब युरोप ने रिनैसॉज के दौरान ग्रीको–रोमन विमर्श का विनियोग किया था। पश्चिम की आत्मछवि के अनुसार तभी वह सबसे आगे निकल गया था।

बर्बर एक लिंगुइस्टिक टर्म है। यूनानी कहते थे कि जो हमारी भाषा हमारे तरीके से नहीं बोल सकता, उसके मुँह से निकलने वाली ध्वनियाँ बर–बर जैसी हैं। इससे उन्होंने यूनानी भाषा में बरबरोई शब्द बनाया और इसी से बारबेरियन या बर्बर बना। इस लिहाज से दुनिया का पहला

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


नस्लवाद, पहला एथ्नोसेंट्रिजम भाषा–आधारित ही था। लेकिन, भारतीय परिदृश्य में तो भाषाएँ ही भाषाएँ थीं, एक से एक शानदार, एक से एक परिष्कृत। उनके बीच कोई प्रतियोगिता नहीं थी, न ही कोई भाषाई राजनीति थी। हर भाषा लैटिन और ग्रीक के टक्कर की थी। यह देख कर उपनिवेशक कुछ परेशान हो गये। लैटिन और ग्रीक के उत्तराधिकारी के तौर पर अंग्रेजी थोपने के बारे में वे करीब अस्सी साल सोचते रहे। 1757 से 1835 तक। पलासी से मैकॉले तक। इसी दौरान उन्होंने यह भी महसूस किया कि भारतीय समाज में ईसाईकरण का फारमूला भी नहीं चल सकता। विलियम जोंस की प्रतिभा का सबसे बड़ा प्रमाण यही था कि जब वारेन हेस्टिंग्ज ने उन्हें कलकत्ता में जज के रूप में नियुक्त किया तो वे इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि इस महादेश को ईसाई नहीं बनाया जा सकता। इसलिए जोंस ने प्रोजेक्ट बनाया कि भारतीय पुराकथाओं को ओल्ड टेस्टामेंट की पुराकथाओं जैसा और उनके विस्तार की तरह व्याख्यायित किया जाए। वे अपने वार्षिक व्याख्यानों में यही करते रहे। साथ ही उन्होंने एक ऐसी ट्रिक ईजाद की जो युगप्रवर्तक साबित हुई। यह थी–इंडोयुरोपियन लेग्वेज फेमिली की खोज। इसे इंडो–आर्यन या भारोपीय भाषा परिवार भी कहा जाता है। इस लेंग्वेज फेमिली ने बताया कि हिब्रू, संस्कृत, लैटिन और ग्रीक नामक चार आदिभाषाएँ हैं जो सम्पूर्ण हैं, परम हैं, और दुनिया की सभी भाषाएँ इन्हीं में से किसी न किसी की पुत्रियाँ हैं। मंडारिन और अरबी–फारसी भी बड़ी भाषाएँ हैं, पर अन्य भाषाओं की माँ बनने का बूता उनमें नहीं है। इस तरह जोंस ने एक तीर से कई शिकार किये। उन्होंने भारत की सभी देशभाषाओं को दोयम दर्जे पर धकेल दिया। इससे संस्कृत के साथ उनकी जीवंत अन्योन्यक्रिया का तथ्य उत्तरोत्तर धुँधला होता चला गया।

हम इस इतिहास को जानते हैं। इसे दोहराने की जरूरत इसलिए हुई कि गणेश देवी की बात का महत्त्व और उसकी समस्या एक साथ समझी जा सके, और मैं यह बता सकूँ कि प्रोफेसर देवी का कैटोफेटिक वक्तव्य मेरी निगाह में एपोफेटिक क्यों है। जैसे ही उनसे त्रिभाषा सूत्र के बारे में सवाल पूछा गया, तुरंत वे कहते नजर आये कि हिंदी तो इंडो–आर्यन फेमिली की भाषा है, इसलिए पंजाबी स्पीकर उसे आसानी से बोल सकते हैं, पर तमिल, कन्नड़ और तेलुगु जैसी द्रविड़ियन भाषाएँ बोलने वालों के लिए हिंदी बोलने की अपेक्षा करना अन्याय है। इस एक वाक्य में उन्होंने जोंस के एक पक्के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


अनुयायी की तरह भारत को भारोपीय भाषा परिवार और द्रविड़ भाषा परिवार के बीच बाँट दिया। भारतीय भाषाओं की बुनियादी और व्यावहारिक एकता को खंडित करने वाला यह बँटवारा जब तक चलता रहेगा, भारत के किसी बोध को परिकल्पित तक नहीं किया जा सकता। ज्ञान–रचना से लेकर वोटों की गोलबंदी तक इस बँटवारे का विकृत प्रभाव हर जगह मौजूद है। आर्य बनाम द्रविड़ के रूप में एक भारतीय किस्म का घटिया नस्लवाद हमारे दिमाग पर सवार रहता है।

मैं प्रोफेसर गणेश देवी का बहुत सम्मान करता हूँ। उन्हें पढ़ता हूँ, उद्धृत करता हूँ। यह समस्या केवल उनकी नहीं है। भाषा परिवार की जोंस प्रदत्त थीसिस से हम सभी की बौद्धिकता आक्रांत है। भारतीय बौद्धिकता को कोलोनाइज करने में इसकी प्रमुख भूमिका है। यह ओल्ड टेस्टामेंट की पुराकथाओं के आधार पर तैयार की गई ऐसी थीसिस है जिसे भाषाविज्ञान के नाम पर हमारे गले उतारा गया है। और यह भाषाविज्ञान खुद में ओल्ड टेस्टामेंट से निकला है। थॉमस ट्राउटमान से लेकर टोनी क्राउली और जोसेफ एरिंग्टन तक न जाने कितने विद्वान प्रामाणिक रूप से यह साबित कर चुके हैं।

इस विकृति के परिमार्जन पर ध्यान न देने के कारण हुआ यह है कि हम भारतीय भाषा–विश्लेषण और पश्चिमी भाषा–विश्लेषण का बुनियदी अंतर भुला बैठे हैं। भारत में भाषाओं को जैविक रूप से परिकल्पित किया ही नहीं गया है। यहाँ कोई भाषा किसी की माँ नहीं हो सकती। भाषाएँ संरचनात्मक रूप से परिकल्पित की गई हैं, और दूसरी भाषाओं से उनके संबंध संरचनागत ही हैं। बीसवीं सदी के पहले दशक में महावीर प्रसाद द्विवेदी से लेकर किशोरीदास वाजपेयी से होते हुए रामविलास शर्मा और भगवान सिंह तक न जाने कितने कोशकार, वैयाकरण, भाषाशास्त्री और भाषाओं के इतिहासकार यह कहते रहे हैं, पर विलियम जोंस के प्रति हमारा शिष्यभाव जरा भी कम नहीं होता। हम मातृभाषा की अवधारणा से चिपके रहते हैं। जिस तरह अठारहवीं सदी में हमें ट्रेडिशन का प्रत्यय थमाया, उसी तरह अठारहवीं सदी में ही हमें मातृभाषा का प्रत्यय थमाया गया। और तो और, हमने यह मान लिया है कि जो मदरटंग है उसके जरिये हम अंग्रेजी से लड़ लेंगे। दरअसल, मदरटंग का आग्रह माँ और परिवार में बोली जाने वाली भाषा का इतना मूल्यवर्धन कर देता है कि बहुभाषिता का भारतीय

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



यथार्थ दुर्भाग्यपूर्ण ढंग से जमीन पर न उतारा जा सकने वाला सिद्धांत बन कर रह जाता है। हम मदरटंग में उलझे रहते हैं और बौद्धिक प्रशिक्षण की भाषा के रूप में अंग्रेजी बेरहमी से हमारे संसार को बदलती रहती है।

अब आते हैं उपनिवेशन पर। एस.एन. बालगंगाधर, जिन्हें उनकी दुनिया भर में फैली शिष्य–मंडली प्रेम से बालू कह कर बुलाती है और जो बेल्जियम स्थित घेंट स्कूल के संस्थापक हैं, जब भारतीय बुद्धिजीवी की कोलोनियल कांशसनेस का सूत्रीकरण कर रहे थे, उस समय वे डबल कोलोनाइजेशन की कोई चर्चा नहीं करते थे। तब उनका संघर्ष युरोपीय उपनिवेशन और उसकी बुनियाद में मौजूद ईसाई ज्ञानमीमांसा से था। मुसलमानों द्वारा किये जाने वाले कोलोनाइजेशन की चर्चा संभवतः उन्होंने अभी दस साल से करनी शुरू की है। मैं मान कर चलता हूँ कि यह पहले भी कहीं न कहीं उनके बौद्धिक मानस में अपनी दबी हुई आहटें दे रही होगी।

इस रुझान को हम हाशिये पर नहीं डाल सकते। न ही इसे सेकुलर–साम्प्रदायिक के फूहड़ द्विभाजन के जरिये संसाधित किया जा सकता है। यहाँ मैं अपनी मान्यता बेझिझक पेश करना चाहूँगा। मैं यह मानता हूँ कि युग चाहे कोई भी हो, जब भी बहुसंख्यक धर्मावलम्बियों पर किसी अल्पसंख्यक मजहब के अनुयायियों की सत्ता स्थापित होगी, और सैकड़ों वर्ष तक चलती रहेगी, तो सांस्कृतिक उत्पीड़न के कहे–अनकहे रूप स्वयं को व्यक्त करेंगे ही। इतने लम्बे समय तक इनका नैरंतर्य एक स्थायी किस्म की मनःस्थिति की रचना भी करेगा। इसकी बौद्धिक अभिव्यक्तियाँ भी लाजिमी तौर पर होंगी। इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि गैर–मुसलमानों ने मुस्लिम शासन के प्रति राजनीतिक प्रतिक्रियास्वरूप ही स्वयं को परिभाषित अर्थों में हिंदू कहना शुरू किया था। लेकिन, इन सब बातों को स्वीकार करते हुए भी मेरा सवाल यह है कि इस्लाम के राजनीतिक अधिपत्य से जनित सांस्कृतिक संताप और उत्पीड़नकारी आयामों के बावजूद क्या उस पर युरोपीय उपनिवेशवाद के भारतीय अनुभव को प्रोजेक्ट किया जा सकता है या किया जाना चाहिए?

एक वैश्विक प्रोजेक्ट के रूप में इस्लामिक अधिपत्य से युरोपीय उपनिवेशवाद पूरी तरह से भिन्न है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, इस्लामिक विस्तारवाद के पास इस तरह का कोई वैश्विक प्रोजेक्ट था ही नहीं। मैं क्रम से बताता हूँ कि दोनों के बीच यह अंतर क्या है :

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


1. मुसलमानों की सल्तनतों और बादशाहतों को संस्कृति–अंतरण में कोई दिलचस्पी नहीं थी, जबकि युरोपियनों का मुख्य लक्ष्य ही संस्कृति–अंतरण था। मुसलमान ज्यादा से ज्यादा अपना मजहब थोपने तक ही सोच पाते थे। सम्भवतः कश्मीर के अपवाद को छोड़ कर भारत में वे यह काम भी उस तरह से नहीं कर पाये जिस तरह उनके साम्राज्य के दूसरे क्षेत्रों में किया गया। रजनी कोठारी ने अपनी विख्यात कृति पॉलिटिक्स इन इंडिया में संक्षेप लेकिन प्रभावी ढंग से समझाया है कि मुस्लिम शासन का चरित्र मुख्यतः फौजी प्रकृति का था। उसने भारतीय या हिंदू समाज का चरित्र बदलने की कोई कोशिश नहीं की। अरविंद शर्मा हिंदू शब्द की यात्रा का मानचित्र प्रस्तुत करते हुए बताते हैं कि भारत के बौद्धिक मंच पर जिस मध्यकाल में हिंदू, बौद्ध और जैन ज्ञानात्मकताओं में जो बहस होती रहती थी, उसके परिप्रेक्ष्य का सीमांकन सामान्यतः संस्कृत ज्ञान–परम्परा द्वारा ग्रहण किये गये विमर्शी तत्त्वों से होता था। जहाँ तक मुसलमानों का सवाल है, वे आम तौर पर इस वाद–विवाद से दूर खड़े रहते थे। उनकी ज्ञानात्मकता जो भी थी, इस मुकाम पर अनुपस्थित ही रहती थी। कार्ल मार्क्स ने तो स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि मुसलमानों ने भारतीय ज्ञानात्मकता को जीतने की कोई कोशिश नहीं की, और दरअसल उससे पराजित हो गये। मार्क्स के ही कथनानुसार अंग्रेजों ने भारतीय ज्ञानात्मकता को उखाड़ दिया।

2. भारत जैसे संस्कृति–सम्पन्न समाज का संस्कृति–अंतरण करने के लिए जरूरी था कि युरोपियन उपनिवेशक एक बहुत बड़े पैमाने पर एक ज्ञानात्मक संहार आयोजित करते। इस तरह का संहार किताबें जलाने या पुस्तकालयों को नष्ट करने से तो होता ही है, ऐसे एपिस्टिमिक जीनोसाइड के लिए एक बहुमुखी, समृद्ध और सुदीर्घ ज्ञान–परम्परा को चलन से बाहर करना जरूरी था। मुसलमान आक्रांताओं के खाते में भी बख्तियार खिलजी द्वारा नालंदा को जलाने का प्रकरण दर्ज है। भारतीय ज्ञान–परम्परा को इससे जरूर नुकसान हुआ होगा, क्योंकि उस लाइब्रेरी में लाखों बहुमूल्य पांडुलिपियाँ थीं। लेकिन, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि बारहवीं सदी के एकदम अंत में हुए इस अपवाद स्वरूप ज्ञानात्मक संहार ने भारतीय ज्ञान–परम्परा को निष्क्रिय कर दिया हो, वह डिसयूज में चली गई हो, संस्कृत में ज्ञानोत्पादन की धारा रुक गई हो, देशभाषाओं में साहित्यिक और विमर्शी रचनाओं का अकाल पड़ गया हो, या समाज में कोई ज्ञानात्मक शून्य पैदा हुआ हो, जिसमें मुसलमान आक्रांताओं ने कोई अपनी ज्ञानराशि स्थापित कर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



दी हो। रिचर्ड किंग जैसे इतिहासकारों का तो कहना है कि भारतीय मध्यकाल विचारों और विमर्शों की विपुल राशि को पैदा करने वाला काल था।

3. वैसे तो मैकॉले की शिक्षा संबंधी संस्तुतियाँ बंगाल में कम्पनी सरकार के शिक्षा बजट (एक लाख रुपए) को पूरी तरह से अंग्रेजी की पढ़ाई पर ही खर्च करने पर केंद्रित थीं, लेकिन इस निर्णय तक पहुँचने के लिए पहले उन्होंने भारतीय या किसी भी प्राच्य भाषा में उत्पन्न ज्ञान को बेकार का, अटकलबाजी पर आधारित, वैज्ञानिकता से वंचित, एकदम स्तरहीन और उन्नीसवीं सदी की दुनिया के लिए पूरी तरह से अनुपयुक्त करार दिया था। मैकॉले का कहना था कि प्राच्य भाषाओं का ज्ञान तो इतना बचकाना है कि इंग्लैंड के किसी स्कूल में पढ़ने वाली बालिकाएँ भी उस पर हँस पड़ेंगी।

4. मैकॉले से करीब पचास साल पहले से नव–प्राच्यवाद भारतीय भाषाओं के साथ एपिस्टिमिक छेड़–छाड़ में लगा हुआ था। शेल्डन पोलोक बताते हैं कि संस्कृत के प्रभाव से हुए हमारी भाषाओं के मानकीकरण नवीं सदी से ही हो रहे थे। प्राच्यवादियों ने इन मानकीकरणों को खारिज करके लैटिन की तर्ज पर इन भाषाओं का दोबारा मानकीकरण करने की मुहिम चलाई। भाषाओं के शब्दकोश फिर लिखे गये, उनके इतिहासों की दोबारा रचना हुई, उनके सर्वे हुए, उनके थिसॉरस फिर से तैयार किये गये। उनके व्याकरण भी रचे गए। इस बार ढाँचा संस्कृत से लेने के बजाय लातिन से लिया गया। यह बहुमुखी आयोजन उपनिवेशवाद की भाषाई विचारधारा के भारतीय संस्करण तहत हो रहा था। चूँकि भारत की बहुभाषिता को खत्म करके उस पर बाइबिल के आदेश के मुताबिक एकभाषिता को नहीं थोपा जा सकता था, इसलिए उपनिवेशक बहु–एकभाषिता यानी मल्टी–मोनोलिंगुअलिटी का हथकंडा लेकर आये। उन्होंने राजकीय नीतियों के जरिए भारत में चार प्रभुभाषाओं की रचना की। उत्तर में हिंदी, पूर्व में बंगाली, पश्चिम में मराठी और दक्षिण में तमिल। इन क्षेत्रों की अन्य भाषाओं को उनके इतिहास से बेपरवाह रह कर इन चार सुपरऑर्डिनेट भाषाओं की मातहती में डाल दिया गया। बंगाल में सभी तरह के हजारों–हजार पारम्परिक विद्यालयों पर कब्जा करके उन्हें आधुनिक शिक्षा के वाहकों में बदल दिया गया।

5. संस्कृत की ज्ञान–परम्परा के अचानक और असमय जड़ीभूत हो जाने को सुदीप्त कविराज ने मानवीय इतिहास की सबसे बड़ी और अचानक एक झटके में उत्पन्न होने वाली ज्ञानात्मक विच्छिन्नता की संज्ञा दी है। सुदीप्त

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


कविराज यह भी पूछते हैं कि हजारों साल से संचित हो रही इस विपुल ज्ञानराशि को किस आधार पर खारिज किया गया? क्या ऐसा करने के लिए पश्चिमी ज्ञान–परम्परा में स्थापित उन संहिताओं का सहारा लिया गया जो ज्ञान के किसी रूप को स्वीकार करने या अस्वीकार करने के लिए प्रयुक्त की जाती रही हैं? कविराज कहते हैं कि उपनिवेशवादियों ने ऐसा करने की कोई जरूरत ही नहीं समझी। उन्होंने यह काम अपनी सत्ता के दम पर किया। केवल पचास–साठ साल के छोटे से समय में संस्कृत की समस्त ज्ञान–परम्परा को पुस्तकालयों की अलमारियों पर धूल खाने के लिए अभिशप्त कर दिया गया। उसकी अनुप्रयुक्तता चलन से बाहर होने के कारण समाप्त होती चली गई। अनुप्रयुक्तता या एप्लायडनेस के शून्य हो जाने के कारण इस परम्परा के नवीकरण और संवर्धन की प्रक्रियाएँ समस्याग्रस्त हो गईं।

6. मेरा ख्याल है कि मुस्लिम शासन पर बहुतेरे आरोप लगाये जा सकते हैं, पर अंग्रेजों ने हमारी संस्कृति, परम्परा, ज्ञानोत्पादन, भाषाओं और धर्म के साथ जो किया, वह आरोप उस पर नहीं लगाया जा सकता। ऐसा कोई ऐतिहासिक साक्ष्य मेरी दृष्टि से नहीं गुजरा है जो यह बताता हो कि कभी संस्कृत पर फारसी या तुर्की थोपी गयी हो, कभी भक्त कवियों को अवधी या ब्रज में कविता लिखने से हतोत्साहित किया गया हो। या संस्कृत के विमर्शकारों को राजकीय प्रतिबंधों का सामना करना पड़ा हो। ज्ञानात्मक विच्छिन्नता की स्थितियाँ तैयार करना मुस्लिम शासन के एजेंडे पर कभी था ही नहीं।

7. युरोपीय उपनिवेशवादियों ने विच्छिन्न्ता से बने शून्य में जिस पश्चिमी ज्ञान को स्थापित किया, उसका वाहक केवल अंग्रेजी को ही नहीं बनाया, बल्कि 1925 में आई ब्यूरो ऑफ एजुकेशन की संस्तुति के अनुसार उसे भारत की किसी भी भाषा में पढ़ाना अनिवार्य कर दिया। नतीजा यह निकला कि आप आज अंग्रेजी से तो बच सकते हैं, लेकिन वेस्टर्न सोशल थियरी से नहीं बच सकते।

जाहिर है कि हम जिस कोलोनियलिटी या औपनिवेशिकता का प्रक्षालन करना चाहते हैं, उसके मूल में यही ज्ञानात्मक विच्छिन्नता है। यह मुस्लिम शासन की देन नहीं, बल्कि युरोपीय उपनिवेशवाद की देन है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



इस लिहाज से हमें सोचना चाहिए कि क्या भारत के डबल कोलोनाइजेशन की थीसिस हमें कैटोफेटिक माध्यम से भारत–बोध के निकट पहुँचने दे सकती है?

IV

अब मैं अपने वक्तव्य के अंत में पहुँच चुका हूँ। मुझे दूसरों का तो पता नहीं, लेकिन मेरी बौद्धिकता का जन्म युरोपीय उपनिवेशवाद द्वारा आरोपित ज्ञानात्मक विच्छिन्नता के ग़र्भ से हुआ है। एपोफेटिक में अटके रहने का यही कारण है। मेरी इस हालत के विपरीत दुनिया में ऐसी कुछ हस्तियाँ हैं जिन्होंने विमर्श और व्यवहार के स्तर पर इस ज्ञानात्मक विच्छिन्नता को लाँघने की अभूतपूर्व उपलब्धि की है। मेरा प्रस्ताव है कि क्यों न अतीत और वर्तमान की इन हस्तियों की एक गोलमेज कांफ्रेंस आयोजित की जाए।

मैं देखना चाहता हूँ कि शिमला के इसी विख्यात संस्थान के गोष्ठी–कक्ष की कुर्सियों पर एक साथ फिलोसोफिया पेरेनिस सूत्रबद्ध करने वाले प्रोफेसर सरन भी बैठे हैं, और कैप्टिव माइंड जैसी थीसिस के सिद्धांतकार सैयद मुहम्मद अलतास भी। वासुदेव शरण अग्रवाल और काशी प्रसाद जायसवाल भी यहीं बैठे हैं, और आनंद कुमारस्वामी भी। इमानुएल वालरस्टीन भी हैं, और सुदीप्त कविराज भी। आशिस नंदी के साथ–साथ उनके प्रिय फ्रांज फानो और अल्बर्ट मेमी यहाँ मौजूद हैं। कोलोनियल कांशसनेस का सूत्रीकरण करने वाले बालगंगाधर को बुलाये बिना ऐसी कांफ्रेंस हो ही नहीं सकती। इसमें हमें क्लॉड एके की जरूरत भी है, और नुगी वा थियोंगो की भी। राधावल्लभजी उदार हैं, उन्हें संस्कृत की मृत्यु वाली थीसिस के बावजूद शेल्डन पोलोक को बुलाने पर आपत्ति नहीं होगी। दरअसल, उन्हें और पोलोक को मिला कर संजय सुब्रह्मण्यम और डेविड शुलमैन की मंडली कई तरह की अंतर्दृष्टियाँ मुहैया करा सकती है। अफ्रीका और एशिया की यह उपस्थिति तब तक सम्पूर्ण नहीं हो सकती जब तक लातिन अमेरिका की डिकोलोनियलिटी की नुमाइंदगी करने वाले वामन प्यूमा डि अयाला और ग्लोरिया एंजेलदुआ की मौजूदगी नहीं होगी। डिकोलोनियलिटी की कसौटी पर मार्क्सवाद को फ्रेक्चर करने वाले खोसे कार्लोस मारियातेगुई का होना भी लाजिमी है। मेरा प्रस्ताव है कि इस गोष्ठी की अध्यक्षता केवल एक ही हस्ती कर सकती है, और वे हैं महात्मा गांधी,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


इसके उपाध्यक्ष केवल धर्मपाल हो सकते हैं और बनते हुए विमर्श की कठिन डगर पर इसका संचालन एक ही विद्वान कर सकता है, और वे हैं डिकोलोनियलिटी और डिलिंकिंग के महारथी वाल्टर मिन्योलो।

मेरा यह रूपक पूछता है कि क्या भारत–बोध डिकोलोनियलिटी के ग्लोबल विमर्श से कट कर उपलब्ध किया जा सकता है? जिसने हमसे हमारा भारत–बोध छीना था वह उपनिवेशवाद आखिरकार एक ग्लोबल परिघटना ही तो थी।

V

अपने दस साल के अध्ययन का मैंने एक नतीजा निकाला है। हमारा जो भी भारत–बोध है या हो सकता है, वह हमारे आत्मबोध का ही पर्याय है। जब–जब हम भारत–बोध की बात करते हैं तो दरअसल हम अपने आत्म की चर्चा ही कर रहे होते हैं। अपने सेल्फ की चर्चा कर रहे होते हैं। उस आत्म की या उस सेल्फ की चर्चा कर रहे होते हैं जो स्थायी रूप से संशोधित किया जा चुका है। संशोधन शब्द भी शायद इस संगीन घटना को पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं कर पा रहा है। मैं कहूँगा कि इस आत्म को स्थायी रूप से बदला जा चुका है। आत्म को बदलने की यह इंजीनियरिंग पश्चिमी उपनिवेशवाद की एक ऐतिहासिक विशेषता है। यह एक युक्ति है जो उनके शिकंजे में जकड़े समाजों के आत्म को अंदर से बाहर तक बदल देती है। उसके गुणसूत्रों को बदल डालती है। मैं यहाँ संक्षेप में बताऊँगा कि इस इंजीनियरिंग पर कैसे और कब महारत हासिल की।

मैं जरा पीछे जाऊँगा। फ्रांसिस बेकन के जमाने में। सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के संधिकाल में। फ्रांसिस बेकन एक्सपेरिमेंटल मेथड के महारथी माने जाते थे। पश्चिम उन्हें विज्ञान का महानतम दार्शनिक मानता है। फ्रांसिस बेकन की मान्यता थी कि मनुष्य की जो आत्मा है उसका एक बड़ा हिस्सा चूँकि ईश्वर से जुड़ा हुआ है इसलिए उसके साथ कोई छेड़छाड़ नहीं की जा सकती। लेकिन उसका एक छोटा हिस्सा ऐसा है जिसके साथ हम न केवल छेड़छाड़ कर सकते हैं, बल्कि उस हिस्से को बदल कर हम मनुष्य के आत्म को कुछ का कुछ बना सकते हैं। इसी आधार पर उन्होंने मनुष्य के सेल्फ को बदलने की एक अभियांत्रिकी बाकायदा प्रस्तावित की। यह अभियांत्रिकी बेकन के बाद की यूरोपीय सदियों से आज तक लगातार चलती आई है। पश्चिम इसे लेकर संकोचहीन है। वह खुल कर इसे अपनी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



विशेषता के तौर पर मंचस्थ करता है। बेकन से लेकर लेनिन तक इस अभियांत्रिकी को मानवता के विकास के लिए एक आवश्यक प्रक्रिया के तौर पर स्थापित किया गया है।

बेकन के अनुसार इस अभियांत्रिकी के तहत मनुष्य की आत्मा का ईश्वर वाला अंश तो जैसा है, वैसा ही रहेगा। लेकिन जो बचा हुआ छोटा सा अंश है उसे हमें तीन हिस्सों में बाँट कर देखना होगा। एक हिस्सा विवेक से संबंधित है। दूसरा हिस्सा स्मृति से संबंधित है। और तीसरा हिस्सा कल्पना से संबंधित है। विवेक से दर्शन उपजता है। स्मृति से इतिहास पैदा होता है। और कल्पना से कविता का जन्म होता है। तो, अगर हम विवेक, स्मृति और कल्पना अर्थात् दर्शन, इतिहास और कविता के क्षेत्र में हस्तक्षेप कर पाएँ तो इन तीनों को बदलने के जरिये मनुष्य की आत्मा के इस अंश को बदल सकते हैं। इस तरीके से एक नए मनुष्य की रचना की जा सकती है। एक ऐसे मनुष्य की रचना, जो मैकॉले के शब्दों में त्वचा के रंग और रक्त में तो भारतीय होगा। लेकिन बाकी सभी मामलों में, अपने चिंतन और अपनी भविष्य–कल्पना के संदर्भ में भारतीय नहीं रह जाएगा। वह या तो भारत और पश्चिम का एक घालमेल होगा, या पूरी तरीके से पश्चिमी होगा, या कोई अजीब सी एक कृति होगा जिसे पहचानना बहुत मुश्किल होगा।

बेकन द्वारा अविष्कृत आत्म की इस अभियांत्रिकी से शिक्षा ग्रहण करते हुए एडम स्मिथ ने भी मनुष्य के आत्म को विभाजित रूप में देखा और इसे और परिष्कृत किया। 1759 में प्रकाशित अपनी पहली रचना थियरी ऑफ मॉरल सेंटीमेंट्स में उन्होंने प्रतिपादित किया कि मनुष्य के अंतःकरण को दो हिस्सों में बाँट कर देखा जाना चाहिए। पहले हिस्से के तहत वह प्राकृतिक और सामाजिक स्थितियों के वशीभूत हो कर अपनी निष्कृष्टता के गर्त में पड़ा रहता है। दूसरे हिस्से के तहत वह एक ऐसे निष्पक्ष प्रेक्षक की भूमिका निभाता है जो अपने हालात से परे जा कर प्रेरणाएँ प्राप्त करता सकता है। स्मिथ ने व्यापक प्रकृति के एक ऐसे अकादमीय पाठ्यक्रम की सिफारिश की जिसके जरिये उसके विचारों और चरित्र को निरंतर सुधार के रास्ते पर चलाया जा सके। यहाँ स्मिथ ने साहित्य के इस्तेमाल के प्रोटेस्टेंट सिद्धांत का सहारा लिया, जिसके तहत पाठक और उसके द्वारा पढ़े जाने पाठ के बीच एक अंतराल रहता है। पाठक तो ओरिजिनल सिन के कारण सहजात दुष्टता और घिनौनी प्रकृति का होने के लिए अभिशप्त है ही,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


लेकिन साहित्य एक श्रेष्ठतर एजेंसी है जो उसे बेहतर नैतिक हस्ती बनाने के लिए डिजाइन की जानी चाहिए। स्मिथ ने मानवीय निकृष्टता को उपनिवेशित समाजों के संदर्भ से भी जोड़ा। उन्होंने अपनी रचना वेल्थ ऑफ नेशंस में सभ्यताओं का पदानुक्रम तैयार किया, और उच्चतर सभ्यता (युरोप) को निम्नतर सभ्यताओं (उपनिवेशित) को सुधारने का ईश्वरप्रदत्त लक्ष्य प्रदान करके उपनिवेशवाद को साभ्यतिक कार्यभार प्रदान कर दिया।

अब आइए लेनिन पर। 17 जुलाई, 1930 को स्टालिन को लिखे एक पत्र में लेनिन ने साहित्यकारों को इंसानी आत्माओं के इंजीनियर के रूप में पेश किया था। लेनिन की इस बात को जब हम लोगों ने पढ़ा, तो उस समय हम प्रगतिशील और जनवादी लेखक आंदोलन की कतारों में थे। जन संस्कृति मंच की स्थापना करने में मैंने एक एक्टिविस्ट के तौर पर एक भूमिका भी निभाई थी। उस वक्त हम लोग इस चीज को कुछ इस तरह से समझते थे जैसे कि लेनिन के कथन से हमें संस्कृति का एक केंद्रीय सूत्र प्राप्त हो गया है और हम इसी के आधार पर हम पूरे सांस्कृतिक आंदोलन की रचना कर सकते हैं। यह बात तो बहुत बाद में समझ में आई कि यह जो यांत्रिकता है, इसकी जड़ कहाँ पर है। मैं तो बहुत बाद में थोड़ा–बहुत समझ पाया, पर कई अन्य विद्वानों ने इस बात को अपेक्षाकृत जल्दी और बेहतर समझा है। अच्छे तरीके से इसकी व्याख्या की है। क्रांतिकारी साहित्य, समाजवादी यथार्थवाद और नये मनुष्य की रचना जैसे विचारधारात्मक लक्ष्यों को हमें इसी साहित्यिक यांत्रिकता के माध्यम से थमाया गया।

प्रोफेसर रणजीत गुहा ने गणेश देउस्कर स्मृति व्याख्यान में अंग्रेजी शिक्षा की भूमिका की चर्चा करते हुए कहा है कि कि अंग्रेजी शिक्षा नौकर को दी जाने वाली शिक्षा की तरह डिजाइन की गई थी, ताकि इसे ग्रहण करने वाले भारतवासी अपने इतिहास से पूरी तरीके से कट जाएँ। वे अपने इतिहास को अपनी दृष्टि से देखना बंद कर दें, और उन्हें उसका पता लगाने के लिए अपने मालिक की तरफ देखना देखना पड़े। इसके बाद गुहा जो कहते हैं और इस प्रसंग में उसे वैसा का वैसा उद्धृत करना जरूरी है। वे कहते हैं कि द इंग्लिश एजुकेशन रिप्रजेंट्स द स्पिरिचुअल ऑपरेशन ऑफ नेटिव माइंड। यहाँ स्पिरिचुअल ऑपरेशन का मतलब समझ लीजिए। यह एक बौद्धिक शल्य क्रिया है, वैचारिक शल्य क्रिया है। यानी, यह लगभग एक स्थायी स्थिति है। हम लोगों के आत्म का जो परिवर्तन हुआ है, हमारा मूल

CC0: In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



आत्म निकाल दिया गया है, उसकी जगह विभिन्न युक्तियों से दूसरा आत्म फिट कर दिया गया और यह लगभग एक स्थायी स्थिति है। इसे दूसरे विद्वानों ने भी माना है। मलेशियाई चिंतक हैं सैयद मोहम्मद अल्तास। साठ के दशक से विउपनिवेशीकरण के सवाल पर जो चिंतन हुआ उसमें अल्तास का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने थियरी ऑफ कैप्टिव माइंड का सूत्रीकरण किया है। वे स्थापित करते हैं कि पश्चिमी सामाजिक सिद्धांत ने हमारे दिमाग को बंदी चेतना वाले दिमाग में बदल दिया है। कुछ इसी तरह की बात गांधी भी कहते थे। गांधी मानते थे भारतीय बुद्धिजीवी की पत्थरदिली का कोई जवाब नहीं है। हम चाहें तो भारतीय बुद्धिजीवी की जगह भारतीय समाज–वैज्ञानिक कह सकते हैं। आप कोई भी तर्क देते रहिए, कोई भी प्रमाण देते रहिए, कोई भी एम्परिकल स्टडी उसके सामने रख दीजिए। वह सुन कर सिर हिलाता रहेगा। लेकिन जो वेस्टर्न सोशल थियरी है, उसके साथ जो उसका गर्भनाल का संबंध है, उसे तोड़ने के लिए किसी कीमत पर तैयार नहीं होगा। ऐसे–ऐसे भारतीय बुद्धिजीवी हैं जिन्होंने अपनी किताबों में स्वीकार किया है कि देखिये, इस वेस्टर्न सोशल थियरी की वजह से हम गंगेश को नहीं पढ़ पाए। हम अभिनवगुप्त को नहीं पढ़ पाए। हम यह नहीं पढ़ पाए, वह नहीं पढ़ पाए। हम ज्ञान के भारतीय रूपों से वंचित रह गए। लेकिन इसके बावजूद हमसे इस वेस्टर्न सोशल थियरी को त्यागने के लिए मत कहिए। क्योंकि, यह तो एक गिफ्ट है।

साठ के दशक में भारत के शिक्षा मंत्री थे त्रिगुण सेन। वे स्वतंत्रता संग्राम सेनानी थे। भारतीय भाषाओं के भारी समर्थक भी थे। उन्होंने इसके लिए एक संस्थाबद्ध प्रयास भी किया था। कुलपतियों के सम्मेलन को संबोधित करते हुए उन्होंने अच्छी तरह से बताया कि अंग्रेजी से हमें क्या–क्या नुकसान है। अंग्रेजी की वजह से दो तरह के वर्ग पैदा हो गए हैं। एक वर्ग दूसरे को हिकारत की दृष्टि से देखता है। वगैरह, वगैरह। लेकिन, साथ में यह भी कह दिया कि इसका मतलब यह नहीं हो सकता कि हम अंग्रेजी को छोड़ दें। वे भी कहते हैं कि अंग्रेजी तो एक गिफ्ट है। एक उपहार है। तो, साठ के दशक में हमें एक स्वतंत्रता सेनानी और भारतीय भाषाओं के समर्थक द्वारा बताया गया था कि अंग्रेजी एक उपहार है। और, अभी दस साल पहले हमें दीपेश चक्रवर्ती ने बताया कि वेस्टर्न सोशल थियरी से भी हमें नुकसान है, लेकिन यह भी एक गिफ्ट है। दरअसल, ये

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


दोनों तोहफे जुड़े हुए हैं, और हमारा जो बंदी मानस है, जिसका स्पिरिचुअल ऑपरेशन हो चुका है, उसी का परिणाम है।

अब सवाल यह है कि ऐसी हालत में हम भारत–बोध को कैसे प्राप्त करें? शिमला की इस गोष्ठी में ऐसी कई बातें हुई हैं, जो मुझे नई रोशनी की तरह लगीं। यह आयोजन न केवल हमें दावत दे रहा है, बल्कि हमें उन सूत्रों की तरफ ले जा रहा है; जिनसे हम भारत–बोध प्राप्त करने की कुछ–कुछ आचार संहिता बनाने की कोशिश कर सकते हैं। कम से कम उसका एक नक्शा, भले ही धुंधला हो, तो यहाँ बनता दिखाई ही पड़ता है। इस संहिता की कुछ संभावित झलकियाँ यहाँ पेश करने की कोशिश करता हूँ। ये बातें पश्चिम की चुनौती के बरक्स यहाँ रखी जाएँगी––

1. पश्चिम की एक चुनौती है जो उसके भाषा दर्शन से प्राप्त हुई है। पश्चिम मानता है कि लिखा हुआ शब्द बोले हुए शब्द से श्रेष्ठ होता है। बोला हुआ शब्द तो जैसे ही बोल दिया गया और वैसे ही तिरोहित होने लगता है। मतलब, काल उसे खा जाता है। इसी धारणा बोली और भाषा के बीच की हायरार्की बनी है। यह स्थापित किया गया है कि व्याकरणसम्मत और लेखनपद्धति से सम्पन्न भाषा ही श्रेष्ठ होती है। बोली इस लिहाज से दोयम दर्जे की संरचना है। यहीं से टेक्स्चुअलिटी निकली है। हमारे साथियों ने यहाँ पर बात करते हुए हमसे एक सवाल पूछा है। सुमेल सिंह सुद्धू ने सवाल पूछा था, रमाशंकर सिंह ने सवाल पूछा था, और भी लोगों ने इस तरफ इशारा किया था कि क्या हमारा भारत–बोध केवल टेक्स्चुअलिटी के दम पर ही बनेगा, या उसमें कुछ और भी होगा। यह चुनौती हमें पश्चिम ने दी है।

2. इसी से जुड़ी हुई पश्चिम की दूसरी चुनौती भी है। एक तरफ तो पश्चिम ने हमें टेक्सचुअलिटी के चक्कर में फँसाया, और दूसरी तरफ हमारे ऊपर आरोप लगाया कि आपका जितना भी चिंतन है वह स्पेकुलेटिव है, कयासबाजी है। उसमें अनुप्रयुक्तता नहीं है। यानी अप्लाइडनेस नहीं है उसमें। फ्रांसिस बेकन से लेकर मैकॉले तक, समग्र पश्चिमी विद्वत्ता प्राच्य दर्शनों पर, प्राच्य विद्याओं पर और प्राच्य सभ्यताओं पर यही कहा कि इनमें अप्लाइडनेस नहीं है। अप्लाइडनेस ले आइए, तब कहीं जाकर पश्चिम का मुकाबला करने के बारे में सोचिए। भारत में डिकोलोनाइजेशन की जरूरत पर जोर देने वाले विद्वान भी मानते हैं कि हमारे अंदर अप्लाइडनेस की बड़ी कमी है। यह जो षड् दर्शन वगैरह है, ये सब बातें बहुत अच्छी करते हैं,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



इसमें हमारा कोई जवाब नहीं है, लेकिन इस सबसे आज के जमाने की समस्याएँ कैसे हल होंगी? इनकी प्रासंगिकता क्या है? इसके बाद हमारे ये विद्वान कहते हैं कि हम लोग तो एक आलस्य के शिकार रहे हैं। देखिए तो, मैकियावेली की पतली सी किताब है द प्रिंस, उसके ऊपर अलमारियाँ भरी हुई है तरह–तरह की टीकाओं और भाष्यों से। पर, हम लोगों ने तो अपने प्राचीन दर्शन के ऊपर कोई टीका और भाष्य लिखे ही नहीं। यह बात कुछ इस अंदाज से कही जाती है कि हम भारतीय लोग स्वाभाविक रूप से आलसी हैं और अपने प्राचीन ज्ञान की हमें न कभी परवाह थी, न आज ही है। जिन्होंने लिखना था उन्होंने लिख दिया, वह पड़ा हुआ अलमारियों में सड़ रहा है। हम अपने ठंडे–ठंडे बैठे हुए हैं। खा–पी रहे हैं और मौज–मस्ती कर रहे हैं। इस प्रकार की एक छवि हम लोगों के सामने पेश की जाती है। ये लोग इस बात को सुविधा पूर्वक भूल जाते हैं कि हम लोगों के इतिहास में 190 वर्ष लंबी और उसके बाद 70 वर्ष अपने जोड़ दीजिए, यानी ढाई सौ साल से ज्यादा लंबी ज्ञानात्मक विच्छिन्नता है। इस ज्ञानात्मक विच्छिन्नता की वजह से हमारा जो प्राचीन ज्ञान है वो पूरा का पूरा डिसयूज में चला गया है। उस मशीन की तरह जो अगर लम्बे अरसे तक चलाई न जाए तो जंग खा जाती है। इस ज्ञान का कोई इस्तेमाल ही नहीं हुआ। दरअसल, उपनिवेशवाद एक ऐसी दुर्घटना है जो मानवीय इतिहास में पहले कभी घटी ही नहीं थी। और उसने सारी दुनिया को अपनी जगह में ले लिया।

3. पाँच सौ साल का उपनिवेशवादी आधिपत्य और फिर पोस्टकोलोनियल जमाने में उसके ज्ञानात्मक वर्चस्व ने एक ऐसी केंद्रीयता पैदा की है जो दुनिया की अन्य केंद्रीयताओं से गुणात्मक रूप से भिन्न है। यह है युरोकेंद्रीयता। उसने न केवल उन देशों को तो अपनी जकड़ में ले लिया है जो उपनिवेशित थे, बल्कि उन देशों को भी अपनी जकड़ में ले लिया है जो दरअसल दैहिक रूप से उपनिवेशवाद की जंजीरों में नहीं जकड़े गए। जैसे कि चीन है, जैसे कि जापान है। अभी हाल ही में मैंने एक लेख पढ़ा – सेल्फ कोलोनाइजेशन ऑफ जापान। यह एक जापानी विद्वान का लिखा हुआ लेख था। बाद में मुझे ध्यान आया कि यही बात तो आचार्य वागीश शुक्ल ने भी कही है कि विउपनिवेशीकरण का मतलब यह है कि हम स्वउपनिवेशीकरण से कैसे मुक्ति प्राप्त करें। भारत–बोध का जो प्रोटोकॉल हमें हासिल करना है उसे हम आगे की गोष्ठियों में बनाएँगे, वह दरअसल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


स्वउपनिवेशीकरण से भिड़ने और उससे उसका प्रक्षालन करने की ही एक कोशिश है।

4. कुछ बातें यहाँ तक की चर्चा में स्पष्ट हो जाती हैं। पहली, टेक्सुअलिटी पर हमारा भारत–बोध सौ फीसदी आधारित नहीं होगा। दूसरी, जो अनुप्रयुक्तता के पहलू हैं, उन पर लगातार ध्यान रखना होगा। तीसरी, विउपनिवेशीकरण का संघर्ष दरअसल स्वउनिवेशीकरण के खिलाफ संघर्ष है। जहाँ तक अनुप्रयुक्तता का सवाल है, हमें षड् दर्शनों के अलावा भारतीय ज्ञान–परम्परा की अन्य उपलब्धियों पर फोकस डालना होगा। हमारे पास एक नाट्यशास्त्र है, हमारे पास एक कामसूत्र है, हमारे पास कौटिल्य का अर्थशास्त्र है। ऐसे ग्रंथों का एक लम्बा सिलसिला है। संस्कृत में हैं, देशभाषाओं में हैं। ये सब दर्शनशास्त्र के ग्रंथ नहीं हैं। ये सब पूजा–अर्चना की कर्मकांडीय बातों को बताने वाले ग्रंथ भी नहीं है। ये सब अनुप्रयुक्तता को दिखाने वाले ग्रंथ हैं। इसके अलावा, जैसे ही आप संस्कृत के विशाल और अद्‌भुत वांगमय से बाहर निकलेंगे, वैसे ही हमें दिखाई पड़ेगा कि देशभाषाओं में व्याकरण से संबंधित जाने कितने बड़े–बड़े काम हुए हैं। खासतौर से तेलुगु और कन्नड़ भाषा में। उसके मुकाबले हिंदी के पास तो यह उपलब्धि बहुत ही कम है। हिंदी तो कहीं उनके आगे ठहरती ही नहीं। मुझे पक्का यकीन है कि तमिल में उनसे भी बढ़ कर काम हुए होंगे। बांग्ला में काम हुए होंगे, उड़िया में काम हुए होंगे, गुजराती में काम हुए होंगे। अत्यंत विपुल–विविध रचना संसार है देशभाषाओं का। पश्चिम में लातिन और वहाँ की वर्नाक्युलर्स का संबंध रहा है, वैसा हमारे यहाँ संस्कृत का और देशभाषाओं का संबंध नहीं है। हम ऐसा नहीं मानते कि संस्कृत ने देश भाषाओं की रचना की है, या देशभाषाओं ने संस्कृत के खिलाफ विद्रोह किया है। ऐसा कुछ भी नहीं है। दोनों एक दूसरे से अन्योन्यक्रिया के जरिये आगे बढ़े हैं। इसी तरह एक दिक्कत की बात यह है कि जब हम भारतीय ज्ञान–परम्परा या भारतीय आत्म–बोध की चर्चा करते हैं तो हमारा सारा फोकस संस्कृत वांगमय पर और संस्कृत की ज्ञान–परम्परा पर हो जाता है। हम लोग फारसी की ज्ञान–परम्परा को बिलकुल भुला देते हैं, जबकि वह संस्कृत की ज्ञान–परम्परा से जुड़ी हुई है। भारत में फारसी की ज्ञान–परम्परा संस्कृत के सारे ग्रंथों के अनुवाद के जरिये बढ़ती दिखती है। फारसी में कई ग्रंथों के भाष्य भी हुए हैं। उसकी तरफ हमें ध्यान देना होगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



दरअसल, भारतीय ज्ञान–परम्परा की नक्शानवीसी संस्कृत–फारसी और देशभाषाओं की ज्ञानात्मक उपलब्धियों का संज्ञान लिये बिना नहीं की जा सकती। इसके बिना अगर हम लोग अगर अपने आत्मबोध को रचना चाहते हैं तो मैं माफी चाहता हूँ कि फिर हम लोग एक एक विफल होने के लिए अभिशप्त परियोजना चला रहे हैं। ध्यान रहे कि यह मुश्किल काम है, क्योंकि भारत की देशभाषाएँ संख्याबहुल हैं, बहुत बड़े–बड़े इलाकों की नुमाइंदगी करती हैं। आबादी के बहुत बड़े–बड़े हिस्सों को अपनी देशभाषाओं पर गर्व है। उन्होंने कभी उन्हें छोड़ा नहीं और अंग्रेज इस बात को जानते थे। इसीलिए देशभाषाओं में लातिन–आधारित परिवर्तनों का समावेश करने के लिए उन्होंने कई उपक्रम किए और बड़े–बड़े प्रयास चलाए। हम लोगों का जो भारत–बोध है वह एक साथ संस्कृत ज्ञान–परम्परा पर तो आधारित होगा ही, वह भारतीय देशभाषाओं की ज्ञान परम्पराओं से उसे पूरी तरीके से सूचित होना होगा। उसे केवल ज्ञानात्मकता पर ही आधारित न होकर अनुप्रयुक्तता पर भी आधारित होना होगा। मेरे ख्याल से इस वर्कशॉप का यह एक प्रमुख संदेश है।

5. एक बड़ा सवाल यहाँ उठा है। क्या भारत पश्चिम से भी कुछ सीखेगा? हम लोगों ने जिन तीन महान विभूतियों के बारे में यहाँ बातचीत की, गांधी, कुमारस्वामी और सरन के बारे में, तो ये तीनों महान विभूतियों ने पश्चिम को खारिज किया है। एक समझौताविहीन तरीके से खारिज किया है, लेकिन पश्चिम का अध्ययन करने के बाद ही खारिज किया है। गांधी खुद ही बताते हैं हिंद स्वराज के आखिर में कि उनके गुरु कौन–कौन से हैं कहाँ–कहाँ से उन्होंने सीखा है। इस सूची में पश्चिमी लोगों के कई नाम हैं। कुमारस्वामी और सरन पश्चिम की विद्या में पर्याप्त निपुण थे। आज की दुनिया में ऐसा कोई एकांत नहीं है जहाँ हम पश्चिम को अनुपस्थित करके, उसकी बेरहम रोशनी से बच कर अपना अलग भारत बना पाएँ। हमें पश्चिमी ज्ञान–परम्परा में भी निष्णात होना होगा। लेकिन, उस तरीके से नहीं जिस तरह पोस्टकोलोनियल विद्वत्ता हो गई है। सुदीप्त कविराज ने अच्छी तरह से बताया है कि ये लोग तो ये दावा करके आए थे कि ये कोई अलग किस्म का सिद्धांत रचेंगे। लेकिन ये तो उसी थियरी को बढ़िया तरीके से हमें बताते रहते हैं। हम क्या करने चले और क्या करते हुए कहाँ पहुँच गये हैं, इसका सबक हमें पोस्टकोलोनियजम से लेना होगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


6. तो, सवाल यह है कि पश्चिम से हम क्या सीखेंगे? हम एक नहीं, दो युरोप की बात करते हैं। एक यूरोप जो औद्योगिक क्रांति के गर्भ से जन्मा और एक यूरोप पह जो औद्योगिक क्रांति से पहले का था। बातचीत कुछ इस अंदाज में होती है कि औद्योगिक क्रांति से पहले का यूरोप बहुत श्रेयस्कर था। हमारी तीन विभूतियों ने इस बात को रेखांकित भी किया है। इससे आसान नतीजा निकाला जा सकता है कि औद्योगिक क्रांति के बाद के युरोप से हमें मुक्ति प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए। मेरा अध्ययन मुझे बताता है कि औद्योगीकरण के गर्भ से पैदा हुआ यूरोप उससे पहले के यूरोप द्वारा बनाई गई जमीन के बिना नहीं पैदा हो सकता था। औद्योगिक क्रांति कहीं आसमान से अचानक नहीं टपक पड़ी है। किसी के दिमाग में कोई फूल खिला और भाप का इंजन निकल पड़ा। ऐसा नहीं है। फ्रांसिस बेकन और उनकी विद्वत्तपरम्परा इस क्रांति से दो सौ साल पहले स्थापित होना शुरू हुई थी। उनकी एक्सपेरिमेंटल थियरी, पूरा युरोपीय रिनैसॉज, उपनिवेशवाद की सभी संहिताएँ और रिनैसॉज की मानववादी छवि–इनके बीच गहरा ताल्लुक है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि उपनिवेशवाद की जितनी भी संहिताएँ हैं वे इसी तथाकथित मानववादी विद्वत्ता के द्वारा तैयार की गईं थीं। उन विद्वानों का काम ही यही था। जैसी गोष्ठियाँ वे लोग करते थे, हम लोग नहीं कर पाते। हम दो दिन की करते हैं, बहुत जोर मारा तो हफ्ते भर की कर लेते हैं। रिनैसॉज पीरियड में दो–दो महीने की गोष्ठियाँ होती थीं। सौ–सौ डेढ़–डेढ़ सौ विद्वान बैठते थे और ये तय करते थे कि स्पेन और पुर्तगाल को क्या करना चाहिए। जिन लोगों का वे उपनिवेशन कर रहे हैं उन्हें गुलाम बनाया जाए, ईसाई बनाया जाए या जानवर समझ कर मार डाला जाए। उनके भीतर आत्मा है या नहीं, अगर है तो किसी तरह की है। उनकी आत्मा की विशेषता क्या है, उसे कैसे परिभाषित किया जाए। उन विद्वानों में आधे से ज्यादा पादरी होते थे, और बाकी ईसाई सेमिनरियों में पढ़े हुए विद्वान। होली रोमन इम्पायर के आदेश पर उन गोष्ठियों को आहूत किया जाता था। फिर उनकी संहिताएँ लिखी जाती थीं। फिर उन संहिताओं को स्पेन और पुर्तगाल के राजाओं को भेजा जाता था. जहाँ दरबारों के बुद्धिजीवियों द्वारा राजा के मार्गदर्शन में उनके ऊपर विचार होता था। इन्हीं संहिताओं के हिसाब से राजा तय करता था कि कहाँ फौजें भेजी जानी हैं, कहाँ कोंक्विस्टाडोर भेज जाएँगे और कहाँ आर्मडा जाएगा। फौजें जीतने के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


बाद क्या करेंगी– इसकी चर्चा भी होती थी। हम लोग सोच लेते हैं कि पुनर्जागरणकालीन युरोप में केवल इटली के फ्लोरेंस नामक नगर में ही सब कुछ घटित हो रहा था, जैसे कि वहीं पर कुछ ख़ास तरह से ज्ञान की आभा फूट पड़ी थी। चित्रकार नये तरह के चित्र बनाने लगे थे, मूर्तिकार नयी शिल्पकला की नींव रख रहे थे, और नये–नये वैज्ञानिक प्रयोग होने लगे थे। फ्रांसिस्को पेत्रार्क जैसी हस्ती वहीं कहीं बैठ कर प्राइवेट लाइफ जैसी कोई एक किताब लिख रहे थे। यह कल्पना जो हमें थमायी गयी है, पूरा का पूरा ज्ञान का जो इतिहास थमाया गया है, वह हमारे सामने बड़ा एक स्वप्न सा दृश्य पेश करता है। यह स्वप्न–दृश्य हमें रिनैसॉज की असलियत देखने से रोकता है। वह हमें नहीं देखने देता कि रिनैसॉज की गोष्ठियों में जो हो रहा था वह बौद्धिक रक्तपात से कम नहीं था। एक तरफ उपनिवेशितों के ज्ञान का संहार चल रहा था, दूसरी तरफ मानव–शरीरों के संहार और ज्ञानात्मक संहार को सैद्धांतिक आधार प्रदान करने का उद्यम जारी था। इसलिए जरूरी है कि आज इस प्रोटोकोल में एक बात और जोड़ी जाए जो अभी तक नहीं कही गयी है। वह है ज्ञान के इतिहास–लेखन का नया अध्याय शुरू करने के बारे में। ज्ञान का जो इतिहास हमें थमाया गया है वो बिल्कुल यूरोकेंद्रित है और उसे आभामंडित करने के पीछे एक युक्ति है जिसे समझना जरूरी है।

7. अब एक बात जो बार–बार कही गई है और सुनने में बहुत अच्छी लगती है। उससे इंकार भी नहीं किया जा सकता। वह है कि द्वंद्व से निर्द्वंद्व की तरफ जाया जाए। भेद से अभेद की तरफ जाया जाए। अब ये बात तो बिलकुल ठीक है। इससे कौन इंकार कर सकता है? लेकिन, यह आदर्श के तौर पर ही हो सकता है। यहाँ हम हम लोग कह रहे कि हमें एक ऐसा भारत बनाना है जिसमें अनुप्रयुक्तता और ज्ञानात्मकता, अम्बिका जी के लफ्जों में हमवजन हों। हमवजनीयता और अभेद अलग–अलग हैं। विश्वनाथजी ने बताया है कि आदर्श और व्यवहार में जो अंतर रह जाता है, उसे पाटने के लिए हम लोग मिथकों का निर्माण करते हैं। इस लिहाज यह जो कथन है, उसे मैं एक मिथक की श्रेणी में रखता हूँ। बस, इसमें देवी–देवता उड़ते हुए नहीं दिखाए जा रहे हैं। लेकिन, है दरअसल यह मिथक ही। हमारा यथार्थ यह है कि हमें अपने भारत–बोध में द्वंद्व के साथ रहने की क्षमता विकसित करनी होगी। हम कोशिश करके उसे हमवजन कर सकते हैं। युरोपियनों के पास यह क्षमता नहीं थी। इसलिए वे ओल्ड टेस्टामेंट और न्यू टेस्टामेंट की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


डायलेक्टिस का समाधान करने के लिए रक्तपात तक करने के लिए आमादा हो जाते थे। आप देखिए, जो ग्रीक फिलोसोफी है, और जो यूरोपियन दर्शन है, उसमें टॉलरेंस का आइडिया शुरू में मौजूद नहीं था। सहिष्णुता का विचार उन लोगों के पास बहुत बाद में आया। यह बात हमें प्रोफेसर भीखू पारेख ने बतायी है। भीखूभाई हमें यह भी बताते हैं कि ग्रीक पेगनिजम और भारतीय पेगनिजम में क्या अंतर है? इसी मुकाम पर हम इस प्रश्न का साक्षात्कार करते हैं कि भारत का जो बहुदेववाद है, उसका हम क्या करें। अगर भारत एक बहुदेववादी समाज है और अगर यह सभा इस पर एकमत है कि भारत एक पेगन सोसाइटी है, तो फिर हम फिर उन चर्चाओं में क्यों उलझें जो लोगों के दिमाग में उतर गई हैं, उस दिमाग में जिसका स्पिरिचुअल ऑपरेशन हो चुका है। हम लोगों का जो देव मंडल है वह आपस में झगड़े करता है, फिर किस तरीके से आपस में एकता करता है, उसका पंच फैसला कौन करता है, किसका आह्वान किया जाता है देवताओं के आपसी झगड़े को निपटाने के लिए? क्या इस सब में परमपिता परमात्मा कहीं मौजूद है? मेरा कहना है कि इस श्रेणी की इसमें कोई जगह ही नहीं। परमपिता परमात्मा भारतीय श्रेणी या हिंदू श्रेणी नहीं है। हमारा ब्रह्म और उनका ईश्वर कोई एक चीज नहीं है। अगर हम मान लेंगे कि हमारा ब्रह्म वही है जो उनका ईश्वर है फिर तो फिर एकेश्वरवाद और बहुदेववाद में कोई फर्क ही नहीं रह जाएगा। हम ज्यादा से ज्यादा यह मान सकते हैं कि हमारे बहुदेववाद के साथ हमारे यहाँ एकेश्वरवादी धारणाओं का भी सहअस्तित्व है। पर, मुख्य भाव या मुख्य धार बहुदेववादी ही है। हमें परमपिता परमात्मा वाली लोकप्रिय समझदारी में हस्तक्षेप करके उसमें संशोधन करना होगा।

8. सुमेल सिंह सिद्धू ने देशभाषाओं वाला सवाल उठाया है। यहाँ यह भी चर्चा हुई कि राजशेखर की काव्य मीमांसा में किस तरीक़े से भाषा–पुरुष की परिकल्पना की गई है। अवध कुमार सिंह की एक रचना का भी जिक्र हुआ। इस वर्कशॉप का एक केंद्रीय संदेश है कि देशभाषाओं की ज्ञान–परम्पराओं को सामने लाना होगा, ऐसे विद्वानों को जमा करना होगा, उनकी नेटवर्किंग करनी होगी। तेलुगु के विद्वानों को लाना होगा। तमिल के विद्वानों को लाना होगा। कन्नड़ के विद्वानों को लाना होगा। उन लोगों को अपनी भाषिक ज्ञान परम्परा में पैठ रखने के साथ–साथ अंग्रेजी भी आनी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



होगी। वेस्टर्न सोशल थियरी में भी उनकी गति होनी होगी। हमें ऐसे अनूठे लोगों की तलाश है। इससे कमतर लोगों से काम नहीं चलेगा।

9. बहुत उम्दा चीज जो सुमेल के लेक्चर से निकलती है वह है गुरु नानक का गृहस्थ आश्रम के ऊपर जोर देना। अब मुझे याद आता है कि मैंने प्रोफेसर टी.एन. मदन की एक पुस्तक पढ़ी थी, जिसका शीर्षक था – नॉनरिएंसेशन। मैंने उसका हिंदी में अनुवाद भी प्रकाशित कराया। प्रोफेसर मदान उसमें बताते हैं कि कश्मीर के ब्राह्मण के लिए सबसे ज्यादा अहमियत गृहस्थ की ही है। सन्यासी इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है उसके लिए। यहाँ देखा जा सकता है कि सिख ज्ञान–परम्परा और कश्मीरी ब्राह्मणों की ज्ञान परम्परा में किस तरह से समान बातें मिलती हैं। परम्परा और उसके अंदर आप देख सकते हैं कि कैसी–कसी समान बातें मिलती है। हमें हमारी ज्ञान–परम्पराओं के मुश्तरका पहलू खोज निकालने होंगे।

10. एक और बात बहुत अहम है जो इस गोष्ठी से निकल कर आई है। वह है भारतीय बुद्धिजीवियों का चरित्र। सवाल यह बनता है कि राज्य की अनुकम्पा स्वीकार करनी चाहिए या नहीं? मैं कभी–कभी व्यंग्य से कहता हूँ और यह एक कटु व्यंग्य है कि हम सब लोग सरकार के वजीफाख़ोर हैं। मैं भी हूँ। हम लोग कल्पना ही नहीं कर सकते कि बिना सरकारी ग्रांट के कोई काम हो सकता है। हमें चाहिए लाखों–करोड़ों रुपए की ग्रांट। मैंने भी हासिल की है। अगर दिल्ली सरकार दो करोड़ प्रतिवर्ष की ग्रांट नहीं देती तो हम देशिक प्रोजेक्ट चला ही नहीं सकते थे। उसे कोई यूनिवर्सिटी लेती ही नहीं। हमें तनख़्वाहें चाहिए। हर तरह की हमें सुविधा चाहिए। यह पूरा का पूरा यूरोकेंद्रित व्यवसाय है बौद्धिकता का। बौद्धिकता की यह राज्यकेंद्रित संरचना उपनिवेशवाद के बिल्कुल शुरुआती सालों में तैयार हुई थी। इवान इलिच की एक रचना है – शैडो वर्क। इसमें इलिच उपनिवेशवाद के उद्घाटन क्षणों की चर्चा करते हैं। ग्रेनाडा में महारानी इसाबेला और सम्राट फर्डिनांड का दरबार लगा हुआ है और उस दरबार में एंतोनियो डिनेब्रिजा नाम के एक विद्वान भाषाशास्त्री है, जिसने कैस्टीलियन (आज की स्पेनी) का व्याकरण लिख कर महारानी को भेंट किया है। दोनों में संवाद चल रहा है। इसी संवाद के दौरान मानवीय इतिहास में पहली बार यह फिकरा निकल कर आया था कि भाषा साम्राज्य की सहचरी होती है। जहाँ–जहाँ साम्राज्य जाता है वहाँ–वहाँ भाषा जाती है। इवना इलिच एक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


और बात बताते हैं कि यही वह क्षण था जब तलवार और लेटराडो यानी बुद्धिजीवी के बीच में एक कोवेनेंट तैयार हो रहा था। एक एक प्रतिज्ञा पत्र तैयार हो रहा था। तलवार यानी राज्य और बुद्धिजीवी के बीच। उस दिन के बाद से यूरोप का बुद्धिजीवी पूरी तरीके से राज्यकेंद्रित हो गया। इमानुएल कांट ने जब कांफ्लिक्ट ऑफ फैकल्टीज नामक अपनी किताब लिखी तो उन्होंने साफ कर दिया कि भविष्य का जो विश्वविद्यालय होगा उसका लगभग प्रत्येक संकाय राज्य को की जाने वाली अनुशंसाएँ तैयार करने के लिए अपना काम करेगा। यही विश्वविद्यालय, इसी विश्वविद्यालय की अनुकृतियाँ आज हर जगह मौजूद हैं। आप विश्वविद्यालयों का कोई भी नाम रख लीजिए, मूलतः वह कांटियन–हुम्बोल्टियन विश्वविद्यालय की उसी टेम्प्लेट पर आधारित होता है। और, हम सब लोग जो कुछ करते हैं वह सब राज्य के पैसे से करते हैं। राज्य की अनुकम्पा से सब कुछ होता है। राज्य जितना चाहता है हम उसका उतना ही विरोध कर पाते हैं। जहाँ वह नाराज हो जाता है हमारा विरोध भी रुक जाता है। हमारी ग्रांट भी रुक जाती है। अब यह भी हम लोगों को सोचना है कि इस समस्या का समाधान क्या है? क्योंकि, भारत–बोध जो है इन विश्वविद्यालयों में तो नहीं बन सकता है और मैंने जिंदगी में पहला व्यक्ति देखा है जो यहाँ बैठा हुआ है। इसने विश्वविद्यालय की नौकरी छोड़ी। आज मेरी इनसे बात हुई थोड़ी सी। अभी और भी बहुत बात करने की जरूरत है इनसे। इन्होंने कहा कि जो मेरे मन में आएगा वह हम लोगों को घर पर बैठ कर पढ़ाएँगे। फिर हमें आती है धर्मपाल की याद और उस उन रपटों की याद जो अंग्रेजों ने तैयार की थीं बंगाल की शिक्षा व्यवस्था के बारे में, पंजाब की शिक्षा व्यवस्था के बारे में और उनमें किस तरीक़े से शिक्षकों को तनख्वाह मिलती थी। वे तमाम पाठशालाएँ, चाहे संस्कृत की पाठशाला हो, चाहे अरबी–फारसी के मदरसे हों, या स्थानीय भाषाओं के विद्यालय हों, वे सब कैसे चलते थे? उनके अंदर कौन लोग पढ़ते थे? कौन लोग पढ़ाते थे? किनको शिक्षा का अधिकार था? इन रपटों को देख कर लगता है कि शायद ऐसा कोई व्यक्ति था ही नहीं जिसको शिक्षा का अधिकार नहीं था। इस तरह की बातों पर हम सभी को बड़ी देर में यक़ीन होता है। मैंने ख़ुद भी भारत की पारम्परिक शिक्षा–व्यवस्था के इस इतिहास पर सकारात्मकता के साथ बहुत देर में सोचना शुरू किया।मैं जनसत्ता में काम करता था। धर्मपाल की एक किताब मेरे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



सामने आई। मैंने उसे पढ़ने से इंकार कर दिया। मुझे लगा कि उसमें सब कुछ झूठ लिखा हुआ है। दस वर्ष तक मैंने धर्मपाल की एक भी किताब नहीं पढ़ी। मैं तो केवल मार्क्सवाद का ही पाठ करता था। बाद में धर्मपाल को पढ़ा, और जब मिन्योलो वगैरह को पढ़ा तो दिमाग के बौद्धिक ऑपरेशन की स्थिति में संशोधन करना शुरू किया। आज भी इसकी लगातार कोशिश कर रहा हूँ। अभी तक पूरी तरह कामयाब नहीं हुआ हूँ।

11. एक और बात मैं रखूंगा जो कि मेरी मेरे जिज्ञासु और शंकाकुल स्वभाव के अनुकूल है। यहाँ वर्णाश्रम धर्म का सवाल उठाया गया है। उस चर्चा को इस तरह कहा गया है कि अगर आप वर्णाश्रम का अनुपालन नहीं करेंगे या उसका तिरस्कार करेंगे, तो समझ लेना चाहिए कि आपको क्या–क्या नुकसान हो रहे हैं और क्या–क्या नुकसान हो सकते हैं। मेरे पास ऐसी विद्वत्ता नहीं है कि इस बात का खंडन कर सकूँ। इसलिए जो कुछ जानता हूँ उतना ही आपके सामने रखूँगा। जब अंग्रेजों ने भारत की पहली जनगणना करायी तो जाहिरा तौर से वे भारतीय यथार्थ को वर्णाश्रम के आईने में देखने पर ही आमादा थे। यह शिक्षा उन्हें उनके अपने प्राच्यवादियों ने दी थी। उन्होंने जनगणना के कर्मचारियों को आदेश दिया कि सारे देश को चार वर्णों में बाँटना है। जब जनगणना के नतीजे आएँ तो भारत की सारी आबादी इन चार वर्णों में विभक्त होकर सामने स्पष्ट रूप से आ जानी चाहिए। तभी यह जनगणना कामयाब मानी जाएगी। ये सारी बातें ऑन रिकॉर्ड हैं। मैं कोई बात अपने मन से नहीं कह रहा हूँ। लेकिन, जब जनगणना के आँकड़े आए तो उन्होंने पाया कि हिंदुस्तान के बहुत कम लोग ऐसे हैं जिन्हें अपना वर्ण पता है। बाकी लोग अपने वर्ण को लेकर भ्रम की स्थिति में हैं, और कुछ लोग तो वर्ण के बारे में कुछ जानते ही नहीं। उस जनगणना रिपोर्ट पर हाउस ऑफ कॉमंस में भी बहस हुई और उसने फैसला दिया कि ये जनगणना फ्लॉप हो गई है। अब अगर मुझसे ही पूछा जाए कि कि मैं किस वर्ण का हूँ, तो शायद मैं बता सकूँ, लेकिन अगर मुझसे पूछा जाए कि क्या मैं वैष्णव हूँ, शैव हूँ या शाक्त हूँ, तो शायद मैं न बता पाऊँ। दक्षिण भारत में ज्यादा लोगों को यह बात पता होगी। फिर दस साल बाद फिर दूसरी जनगणना हुई। तब भी प्राच्यवादियों का प्रभाव था। उन्होंने फिर पूरे जोश के साथ वही काम किया। उस समय रिज्ले जनगणना कमिश्नर थे। उन्होंने जम कर कोशिश की कि फिर से पूरे भारत को चार वर्णों में बाँट

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


के देखा जाए। वे भी चार वर्णों में बाँट के नहीं देख पाए। आज अगर आप फिर से यह कोशिश करेंगे तो आज भी यही परिणाम निकलेगा। अगर आप वर्ण आधारित सेंसस की बात करेंगे तो समस्या पैदा होगी। जब पूरे देश के लोगों को अपने वर्ण के बारे में पता ही नहीं है तो फिर वर्णाश्रम के मानने या न मानने से नुकसान क्या हो सकता है? मैं पहली बार बंगाल गया थो तो वहाँ पर कोलकाता विश्वविद्यालय के होस्टल में ठहरा। जब वहाँ के अपने साथियों से मैंने बातचीत की तब पता चला कि उनके पास तो ठाकुर या क्षत्रिय नाम का कोई वर्ण है ही नहीं पूरे बंगाल में। बंगाल में क्षत्रिय होते ही नहीं है। इसका मतलब ये नहीं है वहाँ युद्धकुशल पराक्रमी लोग ही नहीं होते हैं। तलवारबाज या बंदूकबाज लोग नहीं होते हैं, या अपना बलिदान देने के लिए तत्पर लोग नहीं होते। बंगाल छोटी–मोटी चीज नहीं है। यह तो भारत की बहुसाभ्यतिक संरचना में एक सभ्यतामूलक चीज है। जब बंगाल के अंदर ही चार वर्ण नहीं होते, तो बाकी हिंदुस्तान भर में चार वर्ण क्यों तलाशे जाएँ? मुझे तो लगता है कि यह एक प्राच्यवादी परिकल्पना है जो हमें थमाई गई है।

12. अब आखिरी बात। मैं ऊपर कह चुका हूँ कि देशभाषाओं की ज्ञान–परम्पराओं का संधान करना आवश्यक है। इसी के साथ जुड़ा हुआ प्रश्न यह है कि क्या हमें हिंदी की ज्ञान–परम्परा के बारे में ठीक से पता है? मुझे ही देखिये। मैंने अपना 99 फीसदी काम हिंदी में किया है। अगर मुझसे कहा जाए कि हिंदी की ज्ञान–परम्परा पर एक दस हजार शब्द का निबंध लिख दीजिए तो मैं साँसत में पड़ जाऊँगा। दरअसल, आज तक हिंदी की ज्ञान परम्परा के ऊपर सुव्यवस्थित रूप से काम हुआ ही नहीं है। रामविलास शर्मा ने अपने आखिरी दौर में दो खंडों में एक पुस्तक लिखी थी–भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश। वे दो बृहद् पुस्तकें भी हिंदी की ज्ञान परम्परा की नुमाइंदगी नहीं करतीं। असलियत यह है कि हिंदी की ज्ञान परम्परा पर एक बहुत बड़े वर्कशॉप की आवश्यकता है। तब कहीं जा कर वह बात निकल कर आएगी। तभी हिंदी क्षेत्र के हम लोग भारत–बोध की अपनी संकल्पना की तरफ बढ़ पाएँगे।

***7-सनब्रीज अपार्टमेंट***
***टावर-1, सेक्टर-5, वैशाली,***
***गाजियाबाद, पिनकोड - 201010***

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# भारत-बोध के अन्यथा संस्करणों के बीच भारतीयता की आत्मगवेषणा

**अम्बिकादत्त शर्मा**

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में
दिये गये व्याख्यान पर आधारित

---

उपनिवेशवाद और उसके उत्तर–औपनिवेशिक प्रभाव में हमारा भारत–बोध न केवल दूषित और कलुषित हुआ, बल्कि वह अन्यथा होकर ही रह गया है। इतना ही नहीं, आज हम भारत–बोध के कतिपय अन्यथा संस्करणों को ही उसका वास्तविक संस्करण मानने लगे हैं। भारत–बोध के आधुनिक विमर्श में इन अन्यथा संस्करणों के प्रभावी हो जाने से वास्तविक भारत–बोध तो कहीं गुम ही हो गया है। भारत की नई–नई आत्म प्रतिमाएँ गढ़ी जा रही हैं और वह भारत जो अपने आप है, उसकी वास्तविक आत्मप्रतिमा निरन्तर ओझल होती जा रही है। वैचारिक संकट की ऐसी विपर्यस्त स्थिति में महात्मा गाँधी, आनन्द कुमार स्वामी और ए.के. सरन के विचारों को लक्ष्यगत रखते हुए भारत–बोध के समसामयिक अर्थ–सन्दर्भों पर दृष्टिपात करना अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण पहल है। इसमें कोई दो राय नहीं कि इस पहल से एक और उस वैचारिक साजिश को समझा जा सकता है जिसने भारत–बोध का अन्यथाकरण किया है; तो दूसरी ओर वास्तविक भारत–बोध में पुर्नप्रतिष्ठा की सम्भावनाओं की भी तलाश की जा सकती है। परन्तु आगे बढ़ने से पहले हमें भारत–बोध के प्रश्न को उठाने की कुछ पूर्वमान्यताओं पर विचार अवश्य कर लेना चाहिए।

## I

इसमें पहली बात तो यह कि सभ्यता और संस्कृतियों के बहुध्रुवीय विश्व में भारतीय सभ्यता और संस्कृति की एक विशिष्ट पहचान रही है। प्राचीन दुनिया के प्रमुख सभ्यता केन्द्रों (ग्रीक, यूनान, मध्य एशिया और


**ISSN-0974-0053 (Refereed Journal)**

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


चीन) के बीच भारतीय सभ्यता और संस्कृति बहुत लम्बे समय तक हमवज़न बनी रही है। उन सभ्यता केन्द्रों से समय–समय पर यात्रियों का भारत आना और उनमें भारत को समझने की उत्कंठा, इसी को प्रमाणित करता है। यह बात अलग है कि उनके द्वारा भारत को जिसतरह समझा गया, उसका चश्मा भारतीय था भी कि नहीं। इस दृष्टि से यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति दुनिया की प्राचीनतम, समृद्धतम और अद्यतम सभ्यता–संस्कृति रही है। इसका मतलब है कि कोई 'दी इण्डिया' है, जो इतिहास के लम्बे अन्तराल में तमाम उतार–चढ़ाओं और अन्दर–बाहर के झंझावातों को सहते हुए भी अपनी साभ्यतिक–सांस्कृतिक निरन्तरता और अनन्यता को बनाए हुए है। यदि हम इस 'दी इण्डिया' को सन्दर्भ बिन्दु नहीं बनाते हैं, तो सार्थक और समीचीन रूप से भारतबोध का प्रश्न नहीं उठा सकते। अतः भारतबोध के प्रश्न को पूरे अहमीयत के साथ उठाने की पहली शर्त 'दी इण्डिया' की पहचान और स्वीकार्यता है। भारत के अन्दर और भारत के बाहर बहुत से ऐसे विचारक हैं, जिनकी नजर में 'दी इण्डिया' नाम की कोई चीज ही नहीं। इसलिए उनकी चेतना में भारतबोध की संकटापन्न स्थिति का सामना करने की नौबत ही नहीं आती। परन्तु, आज यदि हम भारतबोध की संकटापन्न स्थिति से चिन्तित हैं और प्रश्न उठा रहे हैं, तो इसका मतलब है कि हमें वास्तविक भारतबोध से च्युत होने का, अपने सांस्कृतिक आत्म से निर्वासित–विस्थापित होने का एहसास है। यह एक सकारात्मक चिन्ता है और शायद इसीलिए भारतबोध और भारतीयता की आत्मगवेषणा का विमर्श खड़ा किया जा रहा है। अतः उपनिवेशवाद के प्रभाव में हुआ हमारा सांस्कृतिक आत्मविस्थापन भारतबोध के प्रश्न को उठाने की दूसरी प्रमुख शर्त है।

भारतबोध का प्रश्न उठाने और उस बोध में पुनः प्रतिष्ठित होने की एक महत्त्वपूर्ण शर्त भारतीय सभ्यता और संस्कृति के कुछ 'प्रथम सिद्धान्तों' की सक्रियता और अंगीकार है। किसी भी सभ्यता–संस्कृति के ज्ञानात्मक इतिहास में उसके कुछ प्रथम सिद्धान्त होते हैं, जो उसके राग और धुन को बनाए रखते हैं। उसकी गतिकी को नियंत्रित भी करते हैं। भारतीयता सभ्यता और संस्कृति के पीछे की सक्रिय ज्ञान–परम्परा के भी कुछ प्रथम सिद्धान्त रहे हैं, जो उसके बहुआयामी विकास को स्वकीयता और उसके सम्पूर्ण विस्तार को एकवाक्यता, एकस्वरता प्रदान करते हैं। ऐसे प्रथम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



सिद्धान्तों की अभियांत्रिकी को समझाने के लिए यह समझना जरूरी है कि किसी भी सभ्यता और संस्कृति का एक स्वरूप–पक्ष होता है और उसका जो बनता–बिगड़ता रूप होता है, वह उसका अभिव्यक्ति–पक्ष है। स्वरूप–पक्ष और अभिव्यक्ति–पक्ष के बीच की युगलबंदी ही किसी सभ्यता और संस्कृति के गतिशील जीवन का इतिहास होता है। यह युगलबंदी स्थायित्व और परिवर्तन के बीच तालमेल बनाने की होती है। यहाँ अवधेय है कि प्रथम सिद्धान्त सभ्यता और संस्कृतियों के स्वरूप–पक्ष से सम्बन्धित होते हैं और उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका इस बात में निहित होती है कि वे सभ्यता और संस्कृतियों के अभिव्यक्ति–पक्ष में आने वाले तमाम प्रकार के आगन्तुक विकारों को प्रक्षालित और परिमार्जित करते रहते हैं। जब कोई सभ्यता और संस्कृति अपने अभिव्यक्ति–पक्ष में उत्पन्न विकारों को ही स्वरूप समझने की भूल कर बैठती है तो उसकी अनन्यता और लयबद्धता ही समाप्त हो जाती है। अतः किसी सभ्यता और संस्कृति की निरन्तरता का निकष महज कालिकता नहीं, उसकी जीवन्त निरन्तरता की कसौटी उसके प्रथम सिद्धान्तों की परिमार्जक सक्रियता होती है। प्रथम सिद्धान्तों की ऐसी भूमिका किसी सभ्यता और संस्कृति के प्रति नीति–निर्देशक तत्त्व की तरह होती है।

II

यद्यपि प्रथम सिद्धान्तों की पहचान और उसकी अभियांत्रिकी को समझना कोई आसान कार्य नहीं, तथापि भारतीय सभ्यता और संस्कृति को धारण करने वाली ज्ञान–परम्परा से प्रतिफलित होने वाले प्रथम सिद्धान्तों का मूलगामी टेक यह है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जीवन की अन्तरावलम्बी एकता और चैतन्य की एकात्मता है। पं. विद्यानिवास मिश्र[1] ने एक प्रसंग में इसकी पहचान तीन रूपों में किया है। पहला यह कि सम्पूर्ण जीवन अखंड और एक है। दूसरा यह कि जीवन निरन्तर प्रवाहित हो रहा हे। यह एक ऐसी गति से चल रहा है, जो तमाम स्थितियों को सम्भाले चलती है। तीसरा यह कि सारी स्थितियाँ, सारे के सारे स्थायी भाव, सारे के सारे तत्त्व जहाँ ठहरे हुए हैं, जहाँ सुप्तप्राय हैं, वहाँ से विस्थापित होकर कुछ होना चाहते हैं, जो कुछ होने की बेचैनी अनुभव करते हैं, वह होने की प्रक्रिया एक है, उसी एक के कारण सब एक दूसरे से सम्बद्ध हो जाते हैं, एक दूसरे से जुड़े हुए सब जुड़ने लगते हैं। वास्तव में गीता[2] में जब यह कहा गया कि विभक्तों में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


अविभक्त और बँटे हुए में अनबँटे को देखना ही सात्त्विक दृष्टि है, ज्ञान की आदर्शभूत स्थिति है, तो इसी की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। सच कहा जाय तो यह जीवन और जगत् के प्रति अद्वैत भावना का इज़ार है, जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति के सम्पूर्ण पसारे में मयुराण्ड रस की तरह अन्तर्व्याप्त है।

भारतीय सभ्यता और संस्कृति का सर्वाधिक मौलिक प्रथम सिद्धान्त इस मूलगामी मान्यता पर आधारित है कि सम्पूर्ण सृष्टि अपने आप में एक समग्र नैतिक व्यवस्था है। प्रकृति की गतिशीलता कोई अस्त–व्यस्त और बेमेल स्वच्छंदता नहीं, बल्कि उसमें एक लय और छंदबद्धता है। ऋत् ही विश्व–व्यवस्था का नियामक और धारक है। जड़, चेतन, स्थावर, जंगम, उद्भिज, सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह–नक्षत्र, देवता और तीनों भुवन; यहाँ तक कि ऋतुएँ भी ऋत् से अधिशासित होकर ही अपनी–अपनी प्रस्थिति और भूमिका में नियोजित हैं। धर्म के विधि–निषेध और नैतिक विधान भी ऋत् की ही सामाजिक स्तर पर अभिव्यक्तियाँ हैं। मनुष्य के आचार और व्यवहार, सामाजिक सम्बन्ध और कर्त्तव्याकर्त्तव्य न तो उसकी निरंकुश इच्छा पर निर्भर हैं, न ही कार्यकारणात्मक प्रवृतियों से जनित हैं, और न वे ऐतिहासिक संयोग से उत्पन्न हैं। आचार और व्यवहार के समस्त प्रतिमान अन्ततः ऋत् में ही गोपित हैं। यह सब कुछ मनुष्य की अन्तरात्मा, उसके हृदय में प्रकाशित और शिष्ट परम्परा द्वारा प्रमाणित होता है। यही कारण है कि अनेक वैदिक ऋचाओं में ऋत् के उल्लंघन से उत्पन्न पाप के लिए वरूण देव से क्षमा याचना करते हुए मनुष्य को देखा जा सकता है। बौद्ध और जैन परम्परा ने भी अपने–अपने तरीके से इस मूलगामी प्रथम सिद्धान्त को क्रमशः प्रतीत्यसमुत्पाद और षड़द्रव्यों की स्वपरिणामी वस्तुव्यवस्था के माध्यम से व्याख्यायित किया है। इस प्रथम सिद्धान्त ने भारतीय जीवन–दृष्टि और भारतीय सभ्यताबोध को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। 'देवोभूत्वा देवं यजेत्' का आर्षजीवनादर्श इसी प्रथम सिद्धान्त का प्रतिफलन है। मनुष्य द्वारा देवयजन का उद्देश्य देव बनना है, क्योंकि देवता ऋत् का उल्लंघन नहीं करते, जबकि साधारण चेतना के धरातल पर मनुष्य ऋत् का उल्लंघन भी करता है।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक नैतिक व्यवस्था है–इस प्रथम सिद्धान्त से बनने वाली विश्वदृष्टि में मनुष्य को सृष्टि में स्वामीवादी वरीयता प्रदान नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



की जा सकती। वह न्यासी है, क्योंकि 'ईशावास्यमिदं सर्वं' से 'त्येनत्यक्तेन् भुञ्जीथा' का व्यवहार प्रतिमान आवश्यक रूप से निगमित होता है।[3] मनुष्य भी तमाम जीवित प्राणियों के बीच एक प्राणी ही है। उसकी कोई ऐसी विशिष्टता नहीं, जिसके चलते उसे सभी वस्तुओं का मापदण्ड माना जाय, जैसा कि होमोमेनसुरा की अवधारणा को प्रोटागोरस से लेकर अब तक पश्चिम पाले हुए है। इसलिए भारतीय दृष्टि मानव—केन्द्रित नहीं, अपितु चराचर—संवेदी है। इस सृष्टि में जो कुछ है, एकेन्द्रिय जीव से लेकर अवतार तक, सबके सब एक ही चैतन्य तत्त्व की विभिन्न कलाओं की अभिव्यक्तियाँ हैं। यही कारण है कि भारतीय दृष्टि में मनुष्य की अवधारणा 'प्रकृतिजयी' रूप में अवधारित न होकर 'आत्मजयी' रूप में साकार हुई है। इसके विपरीत यूरोपीय विश्वदृष्टि में बाइबिल से लेकर विज्ञान तक मनुष्य के स्वामीवादी वर्चस्व और उसके प्रकृतिजयी स्वरूप की अधिमानता को बनाए रखा गया है। भारतीय सभ्यता और यूरोपीय सभ्यता के प्रथम सिद्धान्तों के बीच का यही वह अन्तर है, जिसके चलते भारतीय दृष्टि मानव और मानवीय अतीत के घेरे में बँधी नहीं रह जाती, बल्कि चराचर के अतीत से जुड़ जाती है। आश्चर्य है कि यूरोप द्वारा विकसित विज्ञान, जो माइण्ड एण्ड मैटर, मनुष्य और प्रकृति के अन्तहीन द्वैत पर आधारित है और यूरोप जिसे अपने गौरव की ललामभूत उपलब्धि मानता है; वह आज तक इस विशाल, जीवन्त और रहस्यपूर्ण मानवेतर संसार से आत्मीय सम्प्रेषण की भाषा को खोज पाने में असफल रहा है। सार्वभौमिक संलग्नता के सूत्र तो उसके लिए दूर की कौड़ी है। वस्तुतः मानवीय और मानवेतर संसार के बीच का ऐसा अलगाव—दुराव ही यूरोपीय सभ्यता का सबसे त्रासद आयाम है, जिसने गोएटे को यह कहने के लिए विवश किया कि हर एक अलगाव—दुराव में विक्षिप्तता के बीज होते हैं और हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि उसे पनपने न दिया जाए।

इसके विपरीत भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रथम सिद्धान्तों से जो जीवन—दृष्टि बनती है, उसे इस प्रकार के अलगाव—दुराव का सामना नहीं करना पड़ा, क्योंकि उसने मानवेतर संसार से अपने मिथकीय सम्बन्धों को त्यागा ही नहीं है। सचमुच उस जीवन—दृष्टि के लिए ऐसे अलगाव—दुराव पर विश्वास करना ही मुश्किल है, जिसमें जीवन के एक रूप से दूसरे रूपों के बीच पुर्नजन्म और कायान्तरों की अटूट श्रृंखला है और जहाँ हर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


जीव के भीतर दूसरे के रहस्योद्घाटन की कुंजी छिपी हुई है। भारतीय वाङ्मय के धर्म, दर्शन, नीति और काव्यों में मानवीय और मानवेतर संसार के मध्य आत्मीय सम्बन्ध और चराचर–संवेदी एकात्मता के अनेकों सूत्र सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' से लेकर 'जीवोजीवस्य जीवनम्' के आदर्श में यही प्रतिध्वनित होता है। प्रत्येक भारतीय के लिए अपने जीवन में ऋणत्रय (पितृऋण, ऋषि ऋण, देव ऋण) को चुकाना और पंचमहायज्ञों (भूतयज्ञ, नृयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ) का कर्त्तव्य–विधान मानवीय और मानवेतर संसार के मध्य आत्मीयता के ही नैतिक विधान हैं। केनोपनिषद्[4] में ब्रह्म की उपासना 'वन' के रूप में करने का निर्देश है। इसकी फलश्रुति भूतमात्र से मैत्रीभाव की प्रतिष्ठा है। वस्तुतः मानवीय चेतना और वैश्विक चेतना, व्यष्टि और विराट के मध्य संगति का सूत्र ही भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रथम सिद्धान्तों का नाद है। भारत के लोक–जीवन के तारों को झंकृत कर आज भी इस नाद को सुना जा सकता है। प्रथम सिद्धान्तों के नाल से हमारे जुड़ाव का यही प्रमाण है, जो वास्तविक भारतबोध में हमारी पुर्नप्रतिष्ठा की सम्भावनाओं को सुनिश्चित करता है।

III

उपर्युक्त और वैसे ही कतिपय अन्य प्रथम सिद्धान्तों ने जिस भारतीय सभ्यता और संस्कृति को बहुत लम्बे समय तक सौष्ठव प्रदान किया, उसे सुगठित बनाए रखा, उसकी अस्तित्वात्मक अनन्यता में गतिरोध उत्पन्न नहीं होने दिया और आगन्तुक विकारों के प्रक्षालन की आत्मचेतना जिसमें सदैव प्रज्ज्वलित रही; उसके साथ महज 150 वर्षों में कुछ ऐसा घटित हुआ कि आज हम उस सभ्यता और संस्कृति के ज्ञानात्मक अतीत की जातीय स्मृति से, अर्थात् उस भारतबोध से कट नहीं गये, बल्कि काट दिये गये, जो आत्मचेतना के स्तर पर हमारे होने की, हमारे साभ्यतिक–सांस्कृतिक अस्मिता की बुनियादी शर्त रही थी। लगभग सात सौ वर्षों तक इस देश में इस्लाम का शासन रहा है। इस्लामियत के क्रूर शासनकाल में बड़े पैमाने पर जबरन धर्मान्तरण हुए, कितने मंदिरों को तोड़ा गया, लेकिन तब तक भारतीय सभ्यता और संस्कृति की पाचन शक्ति और आत्मसीमन क्षमता ऐसी बनी रही कि अन्ततः इस्लाम को भारत में सांस्कृतिक पराजय का सामना करना पड़ा। हॉली जब यह फरमाते हैं कि – "किए पै सिफर जिसने सातो समंदर...वो बदला गया आ के हिन्दोस्ताँ में"–

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



तो यह इस्लाम के सांस्कृतिक पराजय का कबूलनामा नहीं तो और क्या है? परन्तु अंग्रेजों और अंग्रेजियत ने इस देश में मंदिर नहीं तोड़े, बल्कि मंदिरों के प्रति जो हमारी आस्था थी, उसी को तोड़ दिया। इतना ही नहीं, वे अपने साथ एक ऐसी सभ्यता–दृष्टि को साथ लाए, जिसने हमारी विश्वदृष्टि और सोच को, जीवन में सार्थकता–निरर्थकता, औचित्य–अनौचित्य तथा श्रेय और प्रेम की परिभाषाओं को ही बदल दिया। वह सभ्यता–दृष्टि थी– जीवन और जगत् के दिव्य और दैवीय लंगरों को काटकर दुनिया का उत्तरोत्तर लौकिकीकरण और निर्दैवीकरण करने वाली। कुछ पश्चिमी सभ्यता वैज्ञानिकों ने इसे 'ऐन्द्रिक सभ्यता' कहा है। देहवासना की सम्पूर्ति में निरत रहना ही इस सभ्यता–दृष्टि का एकमात्र श्रेय है। ब्रह्मा और इन्द्र–विरोचन के औपनिषद् आख्यान का सन्दर्भ लेते हुए इस सभ्यता–दृष्टि के पीछे की सक्रिय ज्ञान–परम्परा को 'असुरोपनिषद्' कहा जा सकता है। इसी ऐन्द्रिय सभ्यता के चपेट में आकर आज हम अपनी ही सभ्यता और संस्कृति के प्रति न केवल हीन भावना से ग्रस्त होकर रह गये हैं, बल्कि हमारा भारतबोध कुछ–कुछ जातिस्मर जैसा ही हो कर रह गया है। हमारा अतीत और हमारी जातीय स्मृति हमारे वर्तान को न तो सम्बोधित करता है और न ही उसे सजगता प्रदान करता है। हमें हमारी ही ज्ञान–परम्परा के गर्भनाल रूपी प्रथम सिद्धान्तों से काट दिया गया है।

कार्ल मार्क्स ने 1853 में 'दी फ्यूचर रिजल्ट्स ऑफ ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' नामक अपने लेख[5] में टिप्पणी करते हुए इस बात की तफसील की है कि "इंगलैंड के भारत में दो उद्देश्य हैं। एक विध्वंसात्मक, जिसमें एशियायी समाज–व्यवस्था को जड़ से उखाड़ना है। दूसरा इस समाज को पश्चिमी भौतिकता के आधारों से जोड़ देना है। अरब, तुर्क, मंगोल इत्यादि जो भारत को क्रमशः जीते, शीघ्र ही उनका हिन्दूकरण हो गया। यह इतिहास का एक शाश्वत नियम है, जिसके तहत बर्बर विजेताओं को श्रेष्ठ सभ्यता के द्वारा पराभूत कर दिया जाता है। ब्रिटिश पहले ऐसी श्रेष्ठ सभ्यता के लोग थे, जिन्होंने भारत को जीता। अंग्रेजों ने भारत की देशी सामुदायिक संरचना को, उत्पादन की देशी प्रणाली को जड़ से उखाड़ फेंका। इतिहास के पन्ने भारत में अंग्रेजी राज का वर्णन इससे इतर शब्दों में नहीं कर सकते।" इस सन्दर्भ में विल ड्यूरेण्ड जैसे महान सभ्यता–विज्ञानी की टिप्पणी भी प्रतिस्मरणीय है। वे 1930 के आस–पास भारत आए थे, महात्मा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


गाँधी से मिले थे और लौटकर 'दी केस ऑफ इण्डिया' नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किया था। इस ग्रंथ का प्रीफेस लिखते हुए वह आँखन देखी भारत के प्रति अंग्रेजी शासन के रवैये पर यह कहने के लिए विवश होते हैं कि–Apparenty Conscious and deliberate bleeding of India by England through out a hundred and fifty years, I began to feel that I had come upon the greatest crime in all history.[6] वस्तुतः उनके कहने का मतलब यह है कि विगत 150 वर्षों के दौरान अंग्रेजों ने जानबूझकर भारतीय सभ्यता और संस्कृति को लगातार नष्ट करने का जो अपराध किया है, वह मानव–इतिहास में किया गया सबसे बड़ा महापाप है।

यहाँ अंग्रेजों ने हम हिन्दुस्तानियों के भीतर एक नये ही वर्ग, एक नये ही प्रजाति को पनपाया। हम और आप न्यूनाधिक रूप से उसी वर्ग में आते हैं। इस वर्ग की एक अजीबोगरीब विशेषता है कि वह अपने देश और सभ्यतागत अतीत से कहीं ज्यादा पश्चिम के बारे में जानता है अथवा जानने को उत्सुक रहता है। ज्ञान के हर क्षेत्र में हम केवली वही जानना चाहते हैं, जिसे पश्चिम से उपजाया है–यूनानियों के वक्त से लगाकर आज तक। हमारे स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों में, जहाँ हमारे दिमाग की ढलाई होती है– यही पढ़ाया जाता रहा है कि ज्ञान की सारी जड़े पश्चिम में हैं। वही ज्ञान श्रेष्ठ है जिसे पश्चिम ने प्रमाणित किया है। हमारे पास यदि कुछ है तो केवल धर्म, अध्यात्म या विज्इम, जिसका आधुनिक प्रगति से कोई लेना–देना नहीं। अपनी ही सभ्यता और संस्कृति के प्रति ऐसा सर्वग्रासी स्मृति भ्रंश और बदहाली हमारे भीतर इतनी गहरी जड़ें जमा चुका है कि हममें से अधिकांश इस तथ्य से बिलकुल अवगत नहीं होते कि हम भी अपने इतिहास के हजारों वर्षों के दौरान वैसे ही ज्ञानात्मक अभियानों से अपने साभ्यतिक पथ पर चल चुके हैं और चलकर ही यहाँ तक पहुँचे हैं। यहाँ स्मरणीय है कि इस देश का सभ्यतागत अतीत, जिसने अपने आप को विगत पाँच हजार वर्षों, और वह भी उथल–पुथल भरे वर्षों, में अपनी निरन्तरता, प्रतिरोधक क्षमता और मानसिक चयापचयी प्रणाली को बनाए रखा है, उसके सामने इतिहास की इस घड़ी में सम्पूर्ण आत्मविस्मृति और पूरी तरह से उजड़ जाने का खतरा उत्पन्न हो गया है। अतएव ऐसी स्थिति में यदि हम इस बात की आकाँक्षा रखते हैं कि भारत केवल पश्चिमी सभ्यता के सागर में लुप्त एटलांटिस या फिर फिलिपीन्स, मैक्सिको आदि के समान न बने और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



यदि सभ्यता–संस्कृतियों के बहुध्रुवीय विश्व में भारत की नियति पर हमें विश्वास है, तो उसके लिए एक ऐसे बौद्धिक पुरूषार्थ और भाष्यधर्मी अभियान को जगाना होगा, ताकि हमारी ज्ञान–परम्परा के महत्त्वपूर्ण अर्थ–सन्दर्भ और उसके प्रथम सिद्धान्त वर्तमान के प्रकाश में हमें संबोधित कर सकें। पश्चिमी अनुभव और अस्मिता से मुक्त अपने जातीय अनुभव और अस्मिता से युक्त 'भारतबोध' में फिर से प्रतिष्ठित होने का यही एकमात्र रास्ता है।

IV

सम्भवतः भारतबोध और भारतीयता के उपर्युक्त संकट को ही ध्यान में रखकर मित्रवर प्रो. बृजेन्द्र पाण्डेय ने भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के तत्त्वाधान में इस संगोष्ठी का आयोजन किया है। इस संस्थान से बेहतर कोई दूसरा स्थान इस कार्य के लिए नहीं हो सकता, क्योंकि इस संस्थान की स्थापना ही ऐसे विमर्शों को खड़ा करने के उद्देश्य से की गई है। एक छोटा ही सही, लेकिन समसामयिक सन्दर्भों में भारतबोध को जगाने, जाँचने–परखने और फिर से उसे आत्मसात् करने का यह एक जरूरी आत्मचेतन पहल है। इस संगोष्ठी का त्रि–आयामिक फलक–गाँधी, कुमार स्वामी और ए.के. सरन–बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इन तीनों को भारत के साभ्यतिक–सांस्कृतिक महत्त्व का भान है और तीनों की चेतना सनातन भारतबोध में प्रतिष्ठित है। इन तीनों के पास पश्चिम की, आधुनिक पश्चिम के साभ्यतिक अभियान की पैनी और गहरी समझ है। यही कारण है कि तीनों अपने–अपने चिन्तन में आधुनिक तकनीकी सभ्यता के हिंस्र स्वरूप को परत–दर–परत उजागर करते हैं। इसके बरक्स वे न केवल सच्ची भारतीयता को पहचान पाते हैं, बल्कि उसे भूलने के विरूद्ध हमें खड़ा भी करते हैं। इन तीनों की अत्युच्य विशिष्टता भारत और यूरोप के बीच की साभ्यतिक दुरभिसंधी अथवा 'आइडियोलॉजिकल पॉलिटिक्स' को उसके नेपथ्य में जाकर देख पाने में है, जहाँ हमारे भारतबोध का 'समरूपी विरूपीकरण' के द्वारा छद्म भारतबोध में रूपान्तरित कर दिया गया है। वह इस तरह कि उपनिवेशकालीन भारत का सामना पारम्परिक अथवा यूँ कहें कि वास्तविक यूरोप से नहीं हुआ था, बल्कि ज्ञानोदित यूरोप से हुआ था। उसी तरह ज्ञानोदित यूरोप अपने विज्ञान, विकास, भौतिक समृद्धि और स्वतंत्रता एवं समानता के मानववादी मूल्यों, इहलौकिक लुभावने मूल्यों को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


लेकर अतीत के भारत अथवा यूँ कहें कि वास्तविक भारत से नहीं, बल्कि अपने अतीत से कटे हुए वर्तमान भारत से मुखातिब हुआ था। भारत और यूरोप के बीच की इस दुरभिसंधि का सबसे खतरनाक पहलु भारत के अतीत और वर्तमान में विभाजन के द्वारा वस्तुतः भारत का आत्मविभाजन था। भारत को इस तरह आत्मविभाजित किये बिना यूरोप का उपनिवेशवाद और साभ्यतिक श्रेष्ठता का दावा वैसे ही सफल नहीं हो पाता जैसे शक, हूण, यवन, पठान, मुगल इत्यादि भारत को न जीत पाये और न ही उपनिवेशित कर सके। वस्तुतः अतीत के, अर्थात् वास्तविक भारत के, समृद्ध साभ्यतिक–सांस्कृतिक मूल्यबोध का सामना स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के सेक्यूलर मूल्यों से किया ही नहीं जा सकता था। लोक और अध्यात्म दोनों ही दृष्टियों से सम्पन्न वास्तविक भारत के समक्ष इन तथाकथित सेक्यूलर और मानववादी मूल्यों की आभा का क्षीण हो जाना स्वाभाविक ही था। अतः उपर्युक्त साभ्यतिक दुरभिसंधी का नतीजा यह हुआ कि भारत का उपनिवेशित वर्तमान उत्तरोत्तर आधुनिक यूरोप से आकर्षित होता गया और उसी अनुपात में अतीत का वास्तविक भारत उपेक्षित और ओझल होता गया। 'आइडिया ऑफ इण्डिया' और भारतबोध के गड्डमड्ड होने की यही बुनियाद और यही उसकी पटकथा है।

महात्मा गाँधी इस साभ्यतिक दुरभिसंधी और घालमेल को समझते थे। इसे समझने के लिए 14 अक्टूबर 1909 को उनके द्वारा हेनरी पोलक को लिखे गये एक लम्बे पत्र को संज्ञान में लेना जरूरी है।[7] इस पत्र को उन्होंने इंग्लैंड के 'पीस एण्ड आर्विट्रेशन सोसायटी' में 'ईस्ट एण्ड वेस्ट' विषय पर दिये गए व्याख्यान के बाद लिखा था। व्याख्यान के निष्कर्षों को यद्यपि उन्होंने 16 बिन्दुओं में प्रस्तुत किया है, तथापि हम यहाँ केवल 4 बिन्दुओं की ओर ही आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहेंगे, जो उपर्युक्त साभ्यतिक दुरभिसंधी से सीधे–सीधे सम्बन्धित हैं। वे इस प्रकार हैं।

"पूर्व और पश्चिम के बीच भेद की कोई दुर्लंध्य दीवार नहीं है। आधुनिक सभ्यता से प्रभावित होने के पूर्व यूरोप के लोग बहुत–सी बातों में पूर्व के लोगों से, या कम से कम भारतीयों से, काफी मिलते–जुलते थे; और आज भी जो यूरोपीय आधुनिक सभ्यता के प्रभाव से अछूते हैं, वे उस सभ्यता के सपूतों की तुलना में भारतीयों से बहुत ज्यादा आसानी से घुलमिल सकते हैं। पूर्व और पश्चिम वास्तविक रूप में तभी मिल सकते हैं, जब पश्चिम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



आधुनिक सभ्यता का लगभग पूर्ण रूप से परित्याग कर दे। दिखावे में तो वे तब भी मिल सकते हैं, जब पूर्व भी आधुनिक सभ्यता को स्वीकार कर ले। लेकिन वह मिलन एक सशस्त्र शान्ति के समान होगा। अगर कल ब्रिटिश शासन का स्थान आधुनिक तौर–तरीकों पर आधारित भारतीय शासन ले ले, तो इससे भारत की स्थिति अच्छी नहीं हो जायेगी। तब भारतीय भी यूरोप या अमरीका के दूसरे या पाँचवें संस्करण बनकर रह जायेंगे।"

द्रष्टव्य है कि महात्मा गाँधी ने इस पत्र को हिन्दस्वराज लिखे जाने के पहले, ठीक एक महिने पहले, लिखा था। इसे हिन्द–स्वराज की रचना–प्रक्रिया के एक महत्त्वपूर्ण सोपान के रूप में देखा जा सकता है, क्योंकि हिन्द–स्वराज के विभिन्न अध्यायों में इस पत्र के सभी विचार–बीज प्रकट रूप से आधुनिक सभ्यता की सख्त टीका और उससे बचकर वास्तविक भारत के पुनराविष्कार की परियोजना के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। मूल बात यह है कि भारत और यूरोप के बीच की साभ्यतिक दुरभिसंधी अथवा अनुचित घालमेल की मंथरा 'आधुनिक सभ्यता' है। पश्चिम आधुनिक सभ्यता का परित्याग करे, यह सम्भव नहीं, और भारत के द्वारा आधुनिक सभ्यता का आहरण एवं स्वीकार एक सशस्त्र शांति के समान या फिर भारतीयों का यूरोप या अमरीका का दूसरा अथवा पाँचवां संस्करण बन जाना होगा। स्पष्ट है कि भारत की ऐसी निर्मिति सच्ची भारतीयता का पुनराविस्कार नहीं, बल्कि भारतबोध और भारतीयता का अन्यथा संस्करण ही होगा। पुनः यदि एक बार यह अन्यथा संस्करण बन गया तो आधुनिकता के विविध पक्षों और उसकी प्रतिक्रिया में भी भारत बोध के और भी अन्यथा संस्करण नहीं बनेंगे, इस सम्भावना को कतई नकारा नहीं जा सकता। इसलिए महात्मा गाँधी के लिए आधुनिक सभ्यता के नागफाँस से मुक्त भारत ही भारतीयता की आत्मगवेषणा है। सम्भवतः महात्मा गाँधी इस दहलीज पर खड़े अकेले व्यक्ति हैं, जो आधुनिक सभ्यता के व्यामोह से मुक्ति में ही भारत की आत्मप्रतिष्ठा देखते हैं।

महात्मा गाँधी के समकालीनों में आनन्द कुमार स्वामी ही ऐसे हैं जो भारत और यूरोप के बीच अनुचित साभ्यतिक घालमेल से बनने वाले भारतबोध के संकट को जाने–अनजाने समझते हैं। यही कारण है कि वे पूरब और पश्चिम के गाथाशास्त्र, धर्मशास्त्र, अध्यात्मविद्या और कला–विधान में मौलिक एकता देखते हैं। क्लासिकल यूरोप और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


क्लासिकल भारत की साभ्यतिक–सांस्कृतिक अभीप्साओं में समता देखने की उनकी दृष्टि अत्यंत ही दृष्टि–विदारक है। दूसरी ओर वे इस बात के प्रति भी अत्यंत आग्रही दिखाई देते हैं कि सनातन भारत के साभ्यतिक–सांस्कृतिक गुण–सूत्रों को भौतिकता और इललौकिकता में मूलित आधुनिक पश्चिमी सिद्धान्तों के आलोक में नहीं समझा जा सकता। दुनिया की प्राचीन सभ्यताओं की कला–परम्पराओं और कला–विधानों का अवगाहन वे एक सौन्दर्यशास्त्री या कलासिद्धान्तकार के रूप में नहीं करते, बल्कि कला–कलापों के माध्यम से वे इस बात को उद्घाटित करते हैं कि मानव–पर्येषणाएँ किस प्रकार सभ्यता और संस्कृतियों में रूपायित होते हैं और विभिन्न भौगोलिक परिवेश में मौलिक एकताके साथ आकार ग्रहण करते हैं। इस रूपायण में आर्किटायपल एकता देखना ही आनन्द कुमारस्वामी की अत्युच्च विशिष्टता है। उनमें यह आशा बलवती दिखाई पड़ती है कि इतिहास में जो एक बार घटित हुआ है, उसे फिर से दुहराया जा सकता है। इसी आशा से उन्होंने न केवल सनातन भारत को पहचाना है, बल्कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता के ज्ञापित, यापित और अनुप्रयुक्त पक्षों को अपनी रचनाओं के माध्यम से उद्घाटित भी किया है। आनन्द कुमार स्वामी भारतीय की ज्ञान–सम्पदा और उसकी सांस्कृतिक परिव्याप्ति तथा वैभव को बहुत गहराई से समझते थे। इसीलिए उनकी रचनाओं में भारत का अपने सनातन स्रोतों से कट जाने की वेदना भी आँसु की तरह छलकता दिखाई पड़ता है। अपने निबन्ध ईस्ट एण्ड वेस्ट में वे इस पीड़ा को प्रकट करते हुए कहते हैं कि भारत ही विश्व में सबसे करूण दृश्य दिखा सकता है। इतना जीवन्त और भव्य संगठन जो मध्य यूरोप क्या, उससे भी अधिक पूर्ण है, वह आज इतने अपरिमेय कोश के उत्तराधिकार के बावजूद इतना दरिद्र और कैसा विनाशोन्मुख है। अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए वे आगे कहते हैं कि हिन्दुस्तान की दरिद्रता इसमें नहीं कि वह आर्थिक दृष्टि से विपन्न है, बल्कि इसमें है कि वह जिसे विपन्नता मानता है वह उसकी बड़ी विपन्नता नहीं है; जिसको सम्पन्नता मानना चाहता है, जिसको अपनी सम्पन्नता का पैमाना मानता है, जिसके कारण वह दिखावटी प्रगति की लालसा का शिकार हो चुका है, वही उसकी वास्तविक दरिद्रता है। जो सम्पन्नता उसके पास है, जो आत्मविश्वास है, जो आत्मप्रत्यभिज्ञान उसके पास, उसकी उपेक्षा कर रहा है। इतनी बड़ी वैचारिक समृद्धि के बावजूद, यह उपेक्षा ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



उसकी वास्तविक दरिद्रता है और यही हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी ट्रेजेडी, उसकी करूणान्त गाथा है।[8]

प्रो. ए. के. सरन महात्मा गाँधी और आनन्द कुमार स्वामी से उर्जस्वित 20वीं शताब्दी के विद्रोही भारतीय समाजशास्त्री हैं। उनका प्रकट विद्रोह उस समाजविज्ञान से है जो आधुनिक सभ्यता के प्रासाद और स्थायित्व के लिए न केवल मनोवृत्ति का निर्माण करता है, बल्कि सामाजिक जमीन भी तैयार करता है। यदि हन्ना आरेंट की शब्दावली में कहें तो आधुनिक समाज विज्ञान मनुष्य के जीवन को लेबर और वर्क की संरचना में आबद्ध कर दिया है। इस इन्फ्रेमिंग में 'विटा एक्टिवा' (सात्विक और निष्काम कर्म) के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह गया है। आधुनिक समाज–संरचना में 'विटा एक्टिवा' के विलोप को ही सरन साहब सबसे बड़ा संकट मानते हैं। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए वे सामाजिक संरचना का त्रि–सूत्रात्मक विश्लेषण करते हैं– मनुष्य का प्रकृति से सम्बन्ध, मनुष्य का सहयात्री मनुष्य से सम्बन्ध और मनुष्य का दिव्य सत्ता से सम्बन्ध। आधुनिक समाज विज्ञान ने इन तीनों सूत्रों की प्रत्येकशः और उनके आपसी संगति को ही छिन्न–भिन्न कर दिया है। इन आधारों का विश्लेषण करते हुए प्रो. ए.के. सरन आधुनिकता की सामाजिक आलोचना करते हैं और साथ ही साथ महात्मा गाँधी के आत्मपूरित ग्रामस्वराज की सामाजिक संरचना को वैधता भी प्रदान करते है। इसके बावजूद वे इस खतरे से भली–भाँति वाकिफ हैं कि आधुनिक सभ्यता के पसरते पाँव ने भारतीय समाज को उसकी ज्ञानपरम्परा और प्रथम सिद्धान्तों से काटकर रख दिया है। फिर भी विडम्बना यह कि आधुनिक भारत का सामाजिक मानस 'नीलकंठ सिंड्रोम' से बुरी तरह ग्रस्त हो गया है। सरन साहब इस 'नीलकंठ सिंड्रोम' के माध्यम से भारतीय मानस की दुविधा को बहुत गहरे में समझते हैं।[9] वह इस तरह कि भारतीय मन इस विपर्यास का शिकार हो गया है कि वह यह मानकर चलता है कि आधुनिक सभ्यता का आहरण करते हुए भी उसका अपनी जड़ों से विस्थापन नहीं होगा। जबकि पूरी तरह विस्थापित हो जाना उसकी नियति है। यह शिव के लिए तो सम्भव है कि उन्होंने समुद्र मंथन के पश्चात् देवताओं की रक्षा के लिए विष का पान कर भी उसके दुष्प्रभाव को कंठ तक सीमित कर लिया था। इसीलिए वे नीलकंठ कहलाए। परन्तु भारतीय मन के पास आधुनिक सभ्यता का विषपान कर नीलकंठ होने का सामर्थ्य नहीं है। सच पूछा जाय

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


तो आज का हमारा भारतबोध भी पूरी तरह 'नीलकंठ सिंड्रोम' से ग्रसित होकर ही रह गया है।

V

भारतबोध और भारतीयता के समसामयिक अर्थ–सन्दर्भों की पटकथा तब तक पूरी नहीं हो सकती जब तक भारतीय पुनर्जागरण की कुछ प्रमुख विचारधाराओं के द्वारा भारतबोध के अन्यथाकरण की जाँच–पड़ताल न कर ली जाए। भारतीय पुनर्जागरण की प्रमुख पाँच धाराएँ रही हैं। इनमें से एक तो सही अर्थों में सच्ची भारतीयता का प्रतिनिधित्व करने वाली अपने स्वरूप में अ–राजनीतिक सनातन धारा है। शेष चार धाराओं की पहचान आधुनिकतावादी, हिन्दू पुनरूत्थानवादी, फूले–आम्बेडकरवादी और वामपंथी के रूप में की जा सकती है। ये सभी अपने चरित्र में न्यूनाधिक रूप से राजनीतिक विचार धाराएँ भी हैं। इन सभी का अपना–अपना भारतबोध है और उसी की अनुरूपता में वे सभी भारत को अपने नेतृत्व में गढ़ना चाहते हैं। इनमें से कुछ को मौका मिल चुका है और बाकी अपने भारतबोध के ढाँचे में भारत को ढालने के लिए अपनी बारी की प्रतीक्षा कर रहे हैं। यहाँ देखने लायक जो बात है वह यह कि इन चारों धाराओं का भारतबोध परस्पर विरोधी है और उससे जो भारत की आत्मप्रतिमा बनती है, वह परस्पर टकराती भी है। यहाँ हमें अपने आप से एक कटु प्रश्न अवश्य पूछना चाहिए कि ये चारों धाराएँ अथवा इनमें से कोई एक भी सच्ची भारतीयता की वास्तविक काया कहलाने के अधिकारी हैं क्या? दावा, जबकि, सब यही करते हैं। वास्तव में इन्हें छद्‌म काया कहे जाने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। भारतीय पुनर्जागरण की उपर्युक्त चारों धाराएँ भारत और यूरोप के बीच उस अनुचित घालमेल की प्रतिउत्पाद हैं जिसे मैंने पूर्व में भारत और यूरोप के बीच की साभ्यतिक दुरभिसंधि कहा है। इनका भारतबोध अपने उपादान में ही 'अन्यथा भारतबोध' है और इस प्रकार अन्यथा भारतबोध के परस्पर विरोधी दावों से वास्तविक भारतबोध ही संकटापन्न हो गया है। वास्तव में भारतीय पुनर्जागरण का यही वैचारिक संकट भी है।

भारतीय पुनर्जागरण के इन विचारधारात्मक कार्यों की एक अजीबोगरीब विशेषता यह है कि ये सभी एक–दूसरे से कितने भी अलग क्यों न दिखते हों, सबके सब सनातन भारत से समान दूरी पार एक ही भूमि पर खड़े हैं और अपने–अपने तरीके से भारत की आत्मप्रतिभा को गढ़ना चाहते हैं। यह भूमि भारत का वह आत्मविभाजित वर्तमान है, जिसे अतीत के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



सातत्य से अलग–थलग और उसके वाङ्मयी ताने–बानों को छिन्न–भिन्न करके खड़ा किया गया है। अतः आत्मविभाजित भारत की खण्डित आत्मप्रतिभा को आधुनिक यूरोप अथवा समाजवादी यूरोप के ईंट–पत्थरों, या फिर प्रचलित हिन्दुत्ववादी उपादानों अथवा सबाल्टर्न गारे–जूने से क्यों न पूरा किया, उसे भारत की अखण्ड आत्मप्रतिमा नहीं कही जा सकती। भारत की वास्तविक और अखण्ड आत्मप्रतिमा को अतीत के सातत्य में ही उसे समझने और उसी के पुरातन लेकिन मूल्यवान अर्थ–सन्दर्भों से सम्पुटित कर निर्मित किया जा सकता है। अतः उपनिवेशवाद के विरूद्ध भारत के पुनर्जागरण का एक प्रारूप भारतीय संस्कृति और सभ्यता के अविकृत स्वरूप–पक्ष और उसके सनातन मूल्यबोध के पुनराविष्कार की युगीन आत्मचेतना के साथ हो सकता था। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि किसी सभ्यता और संस्कृति के विकास की एक स्वकीय धारा होती है और उसका निर्विकार चरमोत्कर्ष स्वकीय प्रारूप में ही प्राप्त होता है। ऐसा भी नहीं कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अभिव्यक्ति पक्ष में विकार न उत्पन्न हुए हों, जैसा कि सभी सभ्यता और संस्कृतियों के जीवन–प्रवाह में होता ही रहता हे। परन्तु, ऐसे आगन्तुक विकारों को ही अपना स्वरूप समझ लेने की भूल भारतीय सभ्यता और संस्कृति ने नहीं की है। अपने आन्तरिक विकारों से उबरने की आत्मचेतना उसमें सदैव दिखाई पड़ती है।

अतः वर्तमान की अपेक्षाओं के अनुरूप अतीत के भारत की वर्तमान में उत्तराजीविता को ही भारतीय पुनर्जागरण का सच्चा प्रारूप माना जाना चाहिए। यही दृष्टि उसे यूरोपीय ज्ञानोदय से अलग करती है। यदि यह सही है तो श्रीअरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गाँधी के चिन्तन में भारतीय पुनर्जागरण का ऐसा ही स्वरूप अपने चरम बौद्धिक पुरूषार्थ के साथ आकार ग्रहण किया है। महात्मा गाँधी के हिन्दस्वराज में इसका वैचारिक वैभव और आत्मपूरित ग्राम स्वराज की अवधारणा में इसकी सम्पूर्ण कार्ययोजना देखी जा सकती है। परन्तु, इसे विडम्बना ही कहिये कि महात्मा गाँधी का भारतबोध भारत के स्वातंत्र्योत्तर पुनर्निर्माण का हेतुबन्ध नहीं बन सका। उलटे 'गाँधी की अनुपस्थिति' में पुनर्जागरण की आधुनिकतावादी, हिन्दू पुररुत्थानवादी, सबाल्टर्नवादी और वामपंथी विचारधाराओं के लिए आज गाँधी असह्य हो गये हैं। वस्तुतः इनके और ऐसे ही अन्यों के लिए महात्मा गाँधी का असह्य होना ही गाँधी और उनके भारतबोध का 'बींग डिफरेंट' है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में भारतबोध के इन्हीं अन्यथा संस्करणों वाली

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



विचारधाराओं की होड़ लगी हुई है। कुछ को मौका मिल चुका है और शेष प्रतिक्षारत हैं। ऐसे में हमें 'अनागत गाँधी'[10] की प्रतिक्षा करनी चाहिए जो भारत को ही नहीं, पूरी दुनिया को आधुनिक सभ्यता के नाग–फाँस और 'प्रिजनर्स डायलेमा' से मुक्ति दिलाएगा। वस्तुतः इसी मुक्ति में सनातन भारत की आत्मप्रतिष्ठा है।

***शिवांश कुंज, बी-31/80 ए.एस.2 एन.आर.***
***भोगाबीर, नरिया, लंका, वाराणसी-221005***

**सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी**

1. *सबको देखना ही देखना है, भारतीय परम्परा और भारत, विद्यानिवास मिश्र, ग्रंथावली–14, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 25–26*
2. *श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 18/20, सर्वभूतेषु यैनेकं भावमव्ययमीक्षते। अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।*
3. *ईशावास्योपनिषद् का प्रथम मंत्र –*
   *1. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।*
   *तेन त्यक्तेनभुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।*
4. *केनोपनिषद्, खण्ड 4, 6*
5. *दी न्यू यार्क डेली ट्रीब्यून, 8 अगस्त 1853*
6. *दी केस फॉर इण्डिया, प्रका. सिमोन एण्ड स्चुस्टर, न्यूयार्क, 1930, पृ.2*
7. *सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, पत्र खण्ड, पृ. 479, पत्र : एच.एस. एल. पोलक*
8. *द्रष्टव्य, ईस्ट एण्ड वेस्ट एण्ड अदर एस्सेज, आनन्द कुमारस्वामी, ओला बुक्स लिमिटेड, कोलम्बो, 1940*
9. *'नीलकंठ सिंड्रोम' के लिए द्रष्टव्य, हिन्दुइज्म एण्ड कॉन्टेम्पोररी इण्डिया, ए.के. सरन, सेन्ट्रल इन्स्टीट्यूट ऑफ हायर टिबेटन स्टडिज, सारनाथ, वाराणसी, 2007, एनेक्स 1, पृ. 144*
10. *अनागत गाँधी के लिए द्रष्टव्य प्रकाश्य 'अनागत गाँधी : बापू से वैश्विक संवाद, अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र, उन्मोचन सिरीज के अन्तर्गत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2026*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# 'स्व और अन्य' की दार्शनिक समस्या : परम्परा और उत्तर–औपनिवेशिकता के सन्दर्भ में निर्मल वर्मा के भारतबोध का वैचारिक विश्लेषण

पंकज श्रीवास्तव

## प्रस्तावना

'स्व' और 'अन्य' की दार्शनिक समस्या इस बुनियादी सवाल से उठती है कि मनुष्य अपने स्वत्व का सृजन, 'अन्य' की उपस्थितियों में किस प्रकार करता है। वह 'अन्य' के साथ कैसा सम्बन्ध रखता है। क्या वह 'अन्य' को अपने समकक्ष बराबरी में स्वीकार कर सह–अस्तित्व / सहभागिता / पारस्परिक निर्भरता / सामंजस्य का रिशता रखता है, या उसे अपने हितों की पूर्ति का साधन मानता है और उसका शोषण कर विरोध / प्रतिरोध / संघर्ष / टकराव का सम्बन्ध बनाता है। यह केवल व्यक्तिगत चेतना का प्रश्न नहीं है, बल्कि एक समाज की सामूहिक चेतना और सोच से भी गहराई से जुड़ा हुआ है, क्योंकि व्यवहार में विभिन्न स्तरों पर (सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक– आध्यात्मिक और नैतिक) समाज और राज्य भी अपने वजूद को अन्य के बरक्स ही निर्मित करतें है और इस बहुस्तरीय प्रक्रिया में जब 'अन्य' को बराबरी का दर्जा देने के बजाय साधन (वस्तु) के रूप में अन्यीकरण' (अदरिंग) कर अपने से अलग देखा जाता है, तब भेदभाव, वर्चस्व और हिंसा को वैचारिक आधार दे दिया जाता है।

इसी 'स्व और अन्य' की दार्शनिक समस्या के संदर्भ में साहित्यकार निर्मल वर्मा का चिंतन एक वैचारिक हस्तक्षेप के रूप में उभरता है। वर्मा आधुनिकता, विकासवाद, और उपनिवेशवाद से उत्पन्न संवेदनहीनता, सांस्कृतिक अलगाव और आत्म–विस्मृति को मानवीय सभ्यता के गंभीर संकट के रूप में देखते हैं, और इसके जवाब में मुख्यतः भारतीय परम्पराओं और अतीत की स्मृतियों को पुनः सक्रिय करने पर जोर देते हैं। यह अध्यन वर्मा के सांस्कृतिक निबन्धों का समकालीन परिस्थितियों में पुनः पाठ कर


ISSN-0974-0053 (Refereed Journal)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



उनकी दार्शनिक संस्थापनाओं और अवधारणाओं का आलोचनात्मक विश्लेषण करते हुए इस मुख्य प्रश्न को उठाता है– क्या परम्परा स्वयं सत्ता–संरचनाओं, ऐतिहासिक वर्चस्व और सामाजिक विषमताओं से मुक्त होती है या फिर, इन प्रक्रियाओं में प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से भाग लेती है? सर्वप्रथम,यह अध्ययन 'स्व' और 'अन्य' की समस्या के उद्भव के दार्शनिक आधारों को समझने का प्रयास करता है। इसके बाद यह अध्ययन मुख्य रूप से निर्मल वर्मा और उत्तर–औपनिवेशिक विमर्श पर ध्यान केंद्रित करते हुए तीन अहम बिंदुओं पर एक दार्शनिक विश्लेषण करने का प्रयास करता है : पहला, 'भारतीयता' की अवधारणा से जुड़ा है – 'भारतीय स्वत्व' अथवा भारतीय अस्मिता पर निर्मल वर्मा की दार्शनिक समझ की बुनियाद क्या है? वर्मा के अपने ही अंतर्मन (विषयिता) के निर्माण के श्रोत क्या हैं? और, उनकी समझ की सीमाएँ और चुनौतियाँ क्या हैं? दूसरा बिंदु वर्मा के परम्परा बोध का उत्तर औपनिवेशिकता के संदर्भों में एक आलोचनात्मक पाठ करता है। तीसरा बिंदु यह स्पष्ट करता है कि निर्मल वर्मा और उत्तर–औपनिवेशिक विमर्श किस तरह आधुनिकता की आलोचना करते हैं। साथ ही, यह वर्मा के चिंतन और उत्तर–औपनिवेशिक सिद्धांतों के बीच मौजूद वैचारिक तनाव को रेखांकित करते हुए, उसी तनाव के भीतर से सार्थक संवाद और आलोचनात्मक हस्तक्षेप की संभावनाओं की तलाश करता है।

## 'स्व–अन्य' समस्या का ऐतिहासिक और दार्शनिक संदर्भ

'स्व' और 'अन्य' की समस्या का मूल प्रश्न है – व्यक्ति के 'स्व' (विषयिता, सब्जेक्टिविटी) का निर्माण कैसे होता है? व्यक्ति की पहचान विभिन्न संदर्भों में 'अन्य' के साथ विभिन्न सम्बन्धों, जैसे कि संघर्ष, बहिष्कार, संवाद, सह–आस्तित्व के आधार पर कैसे निर्मित होती है? 'स्व' और 'अन्य' के अंतर–सम्बन्ध की दार्शनिक समस्या, सामाजिक और ऐतिहासिक स्तर पर तब नजर आती है जब, 'स्व' (विषयिता) एवं 'अन्य' (दूसरा/जगत/प्रकृति/जड़) के परस्पर सम्बन्ध में एक को उच्चतर एवं महत्त्वपूर्ण और दूसरे को निम्नतर व कमतर मान लिया जाता है। यहाँ पर 'स्व' का अर्थ – मैं, अहम्, अस्मिता, आत्म, पहचान, और अपनेपन की अनुभूति से है। जबकि 'अन्य' का अर्थ है – वह जो 'स्व' से बाहर है, अलग है, भिन्न है, या फिर जिसे अलग करके देखा जा सकता है। मानव समाज में भिन्न–भिन्न देश और काल में इस द्वैत ने ही 'अपना और पराया' का भाव पैदा कर 'वे' और 'हम' के बँटवारे और प्रतिरोध को प्रश्रय दिया।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



पश्चिम की पुरातन धार्मिक (पैगन) परम्पराओं में 'स्व' और 'अन्य' का संबंध मूलतः सह–अस्तित्व और सहभागिता पर आधारित था। मिर्चिया एलियादे के अनुसार प्राचीन मनुष्य ऐसे संसार में रहता था जो 'पूर्णतः पवित्रता से व्याप्त' था, जहाँ प्रकृति, देवता और मनुष्य के बीच कोई कठोर विभाजन नहीं था (एलिदा,1957:12)। वाल्टर बर्कर्ट दिखाते हैं कि यूनानी धर्म में देवता प्राकृतिक शक्तियों और सामाजिक जीवन से गहराई से जुड़े थे (बर्कर्ट, 1985:3–6)। जाँ–पियेरवर्नां के अनुसार मिथक और अनुष्ठान 'अन्य' को शत्रु नहीं, बल्कि अर्थपूर्ण सह–उपस्थित सत्ता के रूप में स्थापित करते हैं (वेरनेट, 1983)। इसके विपरीत, बाद की एकेश्वरवादी धार्मिक परंपराओं में 'स्व' की पहचान एकमात्र सत्य और नैतिक श्रेष्ठता से जुड़ गई, जिससे 'अन्य' को, असभ्यया नियंत्रित किए जाने योग्य माना गया। इस बदलाव ने 'स्व' और 'अन्य' के बीच संवाद की जगह विभाजन और वर्चस्व को प्रमुख बना दिया।

इसी प्रकार भारत की आदिम धार्मिक परम्पराएँ प्रकृति–केंद्रित और सामुदायिक थीं, जहाँ आत्मावाद[2], टोटेमवाद[3], मातृदेवी[4] तथा पूर्वज–पूजा[5] के माध्यम से मनुष्य और पर्यावरण के सह–अस्तित्व को धार्मिक अर्थ प्राप्त होता था। (शर्मा, रामशरण 2003, कोसांबी,1956)। जूलियस लिपनर के अनुसार भारतीय बहुदेववाद जीवन के अलग–अलग अनुभवों को दैवीय अर्थ देता है और किसी एक सत्य के प्रभुत्व को अनिवार्य नहीं बनाता; बल्कि सत्य को अनेक रूपों और प्रतीकों में प्रकट होने देता है (लिपनर, 2010)। रोमिला थापर (2002:62–68) भी दिखाती हैं कि 'प्रारंभिक भारतीय धार्मिक चेतना में देवता, प्रकृति और समाज के बीच संवादात्मक संबंध था। इस बहुदेववादी संरचना में 'अन्य' को बाहर नहीं किया जाता, बल्कि उसी व्यापक नैतिक और सांस्कृतिक संसार का अंग माना जाता है।'

ग्रीक दर्शन से लेकर यहूदी–ईसाई धार्मिक परम्परा तक एक गहरी निरंतरता देखी जा सकती है, जहाँ मनुष्य को 'अन्य' से ऊपर, श्रेष्ठ और शासक के रूप में परिभाषित किया गया। यूनानी दार्शनिक प्लेटो[6] और अरस्तू[7] ने मनुष्य को बुद्धि (लोगोस) के आधार पर विशिष्ट माना और इस कारण उसे प्रकृति और अन्य जीवधारियों से श्रेष्ठ ठहराया। इससे मनुष्य और 'अन्य' के बीच एक स्थायी पदानुगत भेद[8] (हाइरार्की) स्थापित हो गया। यहूदी परम्परा में तनख (हिब्रू बाइबल) के जेनेसिस में कहा गया है–

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


'ईश्वर ने मनुष्य को अपनी छवि में बनाया और उसे पृथ्वी तथा सभी जीव–जंतुओं पर प्रभुत्व (डोमनियन) का आदेश दिया : फलो–फूलो, पृथ्वी को भर दो और उस पर अधिकार करो; समुद्र की मछलियों, आकाश के पक्षियों और पृथ्वी पर चलने वाले सभी प्राणियों पर शासन करो।' (जेनेसिस 1:28)[9]

यहूदी धार्मिक परम्परा में यह भी माना गया कि ईश्वर ने मनुष्य को पृथ्वी का संरक्षक और साथ ही शासक नियुक्त किया। परंतु यह संरक्षण भी एक ऐसी अवधारणा रही जो अंततः मनुष्य के प्रभुत्व और अधिकार को ही वैधता देती है। परिणामतः, प्रकृति को मनुष्य के उपयोग और उपभोग की वस्तु मानने की धार्मिक–सांस्कृतिक स्वीकृति मिल गयी। ईसाई धर्म ने मनुष्य को ईश्वर की सर्वोच्च कृति मानकर अन्य (सृष्टि) सभी को उसके अधीन घोषित कर दिया। इस धारणा से बल मिला कि मनुष्य स्वयं में स्वायत्त, बुद्धि–संपन्न और ईश्वर का प्रतिनिधि होने के कारण अन्य सभी सत्ताओं से ऊपर और श्रेष्ठ है।

आधुनिक पश्चिमी दर्शन में व्यक्ति की अवधारणा प्रायः 'स्व' और 'अन्य' के बीच प्रतिरोध और संघर्षात्मक सम्बंध के रूप में विकसित हुई है। हॉब्स (2004) मानव स्वभाव को मूलतः प्रतिस्पर्धी और आत्मरक्षात्मक मानते हैं, जहाँ अन्य व्यक्ति 'स्व' के अस्तित्व के लिए संभावित खतरा बन जाता है। रूसो (1997) के चिंतन में सामाजिक जीवन के विकास के साथ 'अन्य' – तुलना, ईर्ष्या और असमानता, का स्रोत बनता है, जिससे 'स्व' की नैसर्गिक स्वतंत्रता और सहजता का क्षय होता है। डार्विन (2009) ने विकासवाद को प्राकृतिक नियम के रूप में स्थापित किया था, जिसे बाद में सामाजिक और राजनीतिक विमर्शों में स्थानांतरित कर 'अन्य' (दूसरा व्यक्ति और प्रकृति) को प्रतिद्वंद्वी और चयन की प्रक्रिया में बाधा के रूप में समझा गया। हालांकि हेगल (1977) की स्व–चेतना की संकल्पना में 'स्व' और 'अन्य' का सम्बंध, परस्पर संघर्ष और एकता के माध्यम से ही संभव होता है, जहाँ 'स्व' की पूर्णता 'अन्य' के साथ जुड़ी दिखाई देती है। मार्क्स (1978) के 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' में भी 'अन्य' वर्गीय संरचना (क्लास स्ट्रक्चर) के भीतर विरोधी शक्ति के रूप में उपस्थित होता है, जहाँ 'शोषक' और 'शोषित' का द्वंद्व सामाजिक बदलाव की केंद्रीय संरचना बन जाता है। इसी परम्परा में आगे चलते हुए सार्त्र (2003) के अस्तित्ववाद में 'अन्य', 'स्व' के लिए नर्क या एक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



सीमाबद्धकारी शक्ति बन जाता है। इस प्रकार आधुनिक चिंतन की एक सशक्त धारा में 'अन्य' को निकृष्ट, पराया, विरोधी, और 'स्व' के आत्म–साकार में बाधक तत्त्व के रूप में व्याख्यायित किया गया है।

भारत में दर्शन की प्रमुख परम्पराओं में 'स्व' और 'अन्य' की समस्या एक अलग ढंग से तत्त्वमीमांसीय आधारों पर उभरती है। यह केवल पहचान या विरोध की समस्या नहीं है। यहाँ यह समस्या इस दार्शनिक जिज्ञासा से जुड़ती है कि चेतना, आत्मा और जगत का आपसी सम्बन्ध कैसे समझा जाए। सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति का द्वैत मनुष्य के स्वत्व को दो स्तरों पर बाँट देता है– एक ओर शुद्ध साक्षी चेतना और दूसरी ओर प्रकृति से निर्मित 'मन, बुद्धि और अहंकार'।[10] सांख्य की तत्वमीमांसीय संरचना जहाँ व्यावहारिक स्तर पर पुरुष को प्रकृति के माध्यम से संसार से संबद्ध करती है, वहीं चेतना को प्रकृति से भिन्न और श्रेष्ठ स्थापित कर एक सूक्ष्म लेकिन अस्तित्वगत पदानुक्रम (एक्जिस्टेंशियल हैरार्की) भी निर्मित करती है।[11] इस कारण 'अन्य' –चाहे वह प्रकृति हो या देह, अंततः साधन बन जाता है, न कि समान सहचर। अद्वैत वेदांत 'स्व' और 'अन्य' के द्वैत को माया कहकर पारमार्थिक स्तर पर निरस्त कर देता है। यह दृष्टि नैतिक सह–अस्तित्व का एक गहन और आकर्षक आदर्श अवश्य प्रस्तुत करती है, किंतु व्यावहारिक सामाजिक यथार्थ में सत्ता, हिंसा, जाति और असमानता जैसे ठोस तथा जटिल प्रश्नों से उसका संवाद अक्सर सीमित रह जाता है। यहाँ 'अन्य' की पीड़ा का उन्मूलन उसकी मुक्ति से अधिक, उसके अनुभवों के अदृश्य हो जाने का जोखिम पैदा करता है। बौद्ध दर्शन का 'प्रतित्यसमुत्पाद'[12] इस समस्या को सबसे अधिक सम्बन्ध–परक और व्यावहारिक ढंग से रखता है। यह दृष्टि सामाजिक यथार्थ में संघर्ष, प्रतिरोध और सह–अस्तित्व– तीनों को समझने का दार्शनिक आधार देती है। क्योंकि बौद्धदर्शन के लिए सब कुछ ही परिवर्तनशील है, तो 'स्व' और 'अन्य' दोनों ही मात्र भाषा का ही व्यापार है, और अवधारणात्मक ही हैं। ऐसे में ये एक–दूसरे पर ना केवल निर्भर हैं, बल्कि एक दूसरे के द्वारा ही निर्मित भी होते हैं। लेकिन फिर अंत में निर्वाण में इन सम्बन्धों के 'समूलनाश' की अवधारणा पर यह प्रश्न भी उठता है कि क्या सामाजिक अन्याय और ऐतिहासिक पीड़ा का समाधान केवल वैयक्तिक बोध में सम्भव है। यह देखना रोचक है कि चार्वाक परम्परा इस पूरी बहस को जमीन पर उतार देता है। उसके लिए 'स्व' और 'अन्य' किसी पारलौकिक सत्य के नहीं, बल्कि इन्द्रियानुभव और भौतिक जीवन के प्रश्न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


हैं। इस अर्थ में चार्वाक परम्परा भारतीय दर्शन की उस धारा की याद दिलाती है, जो सह–अस्तित्व की बात करते हुए भी जीवन की ठोस परिस्थितियों को नजर अंदाज नहीं करती।

चार्वाक को छोड़कर भारत की प्रमुख परम्परायें 'स्व' और 'अन्य' के बीच सह–अस्तित्व का नैतिक आदर्श अवश्य प्रस्तुत करती है, पर व्यावहारिक स्तर पर वह भी तनाव, पदानुक्रम और बहिष्कार से मुक्त नहीं है। इसलिए भारतीय दृष्टि को पाश्चात्य परम्परा के 'संघर्ष–केंद्रित' मॉडल के बरक्स 'सह–आस्तित्व केंद्रित'मॉडल के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसी जटिल परम्परा के रूप में पढ़ना अधिक उचित प्रतीत होता है, जहाँ सह–अस्तित्व एक आदर्श (यूटोपिया) तो अवश्य है, पर यथार्थ में साकार नहीं हो पाता है। यह सवाल भी सहज रूप से उठता है –सैद्धांतिक स्तर पर भी क्या पदानुक्रम भेद नहीं है? उदाहरण के लिए सभी प्रमुख परंपराओं में चेतन को अचेतन, आंतरिक को वाह्य से, अ–ऐतिहासिकता को ऐतिहासिकता से, अलौकिक को लौकिक से अधिक महत्त्व दिया गया है।

भारत की वर्तमान परिस्थितियों में, जहाँ आर्थिक भूमंडलीकरण ने वर्चस्वशाली वर्ग की आत्म केंद्रियता को चरम पर पहुँचा दिया है, निर्मल वर्मा का हस्तक्षेप केवल सांस्कृतिक नहीं, बल्कि गहन दार्शनिक मीमांसा की माँग करता है। वे आधुनिकता द्वारा रचित उस चेतना–संरचना पर प्रश्न उठाते हैं, जो मनुष्य को प्रकृति, अन्य मनुष्य और स्वयं अपने भीतर से काट देती है। उनका चिंतन तकनीक, पूँजी और उपभोग से संचालित जीवन के बरक्स स्मृति, संवेदना और आंतरिक नैतिकता को पुनः केंद्र में लाने का आग्रह है। आज उनके विचारों की गहन दार्शनिक समीक्षा जरूरी है, ताकि यह समझ बनायी जा सके कि क्या उनका परंपरा–बोध कोई वैकल्पिक मानवीय दृष्टि देता है, जिससे इस यांत्रिक जीवनशैली से आधुनिक मनुष्य को छुटकारा मिल सके।

### 'स्व–अन्य' की समस्या में निर्मलवर्मा का हस्तक्षेप

निर्मलवर्मा 'स्व' और 'अन्य' की समस्या को आस्तित्वात्मक, अनुभवात्मक और सृजनात्मक दृष्टिकोणों से देखते हुए हस्तक्षेप करते हैं और एक नए ढंग का विमर्श प्रस्तुत करते है, जो सेमेटिक धर्मो, पाश्चात्य आधुनिकता और राष्ट्रीयता की अवधारणाओं में मनुष्य की अहम केंद्रित भूमिका की आलोचना से उपजता है। वर्मा (2017:162) कहते हैं :

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



ईसाई धर्म में जिस तरह ईश्वर की कल्पना मनुष्य के में रूप की गयी, उसी तरह यूरोपीय मनुष्य ने अपने रूप में राज्यतंत्र और समाज–व्यवस्था की परिकल्पना की है। दोनो में ही मनुष्य केंद्र में है जो उसे एक तरफ ईश्वर, दूसरी तरफ बाहरी जगत से जोड़ता है। अतः पिछले तीन सौ वर्षों में – विशेषकर रेनेसा के बाद–यूरोप में जिन राज्य तंत्रों की स्थापना हुई, उनका सांस्कृतिक स्रोत मनुष्य की वह आत्मकेंद्रित छवि है जो मनुष्य ने अपने बारे में बनायी थी, एक स्वायत्त आत्मकेंद्रित छवि जो अपने बाहर की दुनिया को भी स्वतंत्र, विशिष्ट राष्ट्रीय इकाइयों में विभाजित करके ही देख सकती थी। एक राजसत्ता और कुछ नहीं, अंततः एक व्यक्ति के आत्मनिष्ठ अहम का वृहत्तर रूप थी, जिसकी सत्ता और पहचान अन्य सत्ताओं के संदर्भ में ही बनती थी– कभी उनके साथ कभी उनके विरूद्ध –किंतु अपने में हमेशा स्वतंत्र, अलग और आत्म केंद्रित। यह संयोग नहीं कि यूरोप में व्यक्ति–निष्ठ मनुष्य का अकेलापन और राष्ट्रों का आक्रमक आत्मबोध समय के एक बिंदु पर ही विकसित हुआ।

निर्मल वर्मा के दृष्टिकोण में यूरोप (पश्चिम) में 'स्व' और 'अन्य' के बीच जितनी बड़ी खाई है उतनी भारतीय जीवनशैली (पूर्व) में नहीं है। पश्चिम में व्यक्ति के 'स्व' का अहम और उसका दम्भ जितना एकांगी है, उसकी तुलना में पूर्व में 'स्व' का विस्तार बहुआयामी है, क्योंकि यहाँ समुदाय की व्यक्ति के सम्बन्ध में प्रधानता है। पूर्व में सामाजिक और धार्मिक सम्बन्धों का ताना–बाना इतना अधिक व्यापक है कि एक व्यक्ति का 'स्व' (विषयिता) और अस्तित्व (वजूद) उसकी पारिवारिक, सामाजिक और धार्मिक समुदाय के आगे गौण है। इसी कारण, पश्चिम में एक व्यक्ति अपने बाल्यकाल से जैसे ही बड़ा होकर युवा होता है, वह अपनी समझ और सोच के सहारे खुद को स्वायत्त मानने लगता है और अपने अधिकारों की माँग उठाने लगता है, पर भारत में एक व्यक्ति युवावस्था में होने पर भी अपने समुदाय के विरोध में जाने में असहज और भयग्रस्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी परवरिश और समाजीकरण के कारण एक ओर तो वह भावनात्मक रूप से अपने परिवार और समाज से अधिक जुड़ा हुआ महसूस करता है, लेकिन दूसरी ओर, विरोध और संघर्ष की स्थितियों में, समुदाय का दबाव और आतंक दोनों को ही अपने अंतरतम में महसूस करता है, जिसके कारण वह स्वायत्त नहीं हो पाता है। वर्मा के अनुसार, भारत में व्यक्ति दायित्वों की पूरी एक शृंखला में बँधा होता है। वर्मा (2024क : 71–72)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



निर्मल वर्मा बड़े ही कल्पनाशील लेकिन विचार प्रधान शैली में लिखतें हैं : यह महज ऐतिहासिक संयोग नहीं था कि पश्चिमी साहित्य में 'ट्रेजेडी' जैसी सशक्त , सांद्र, विस्फोटक विधा का आविर्भाव इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि वहाँ मनुष्य और मनुष्य, मनुष्य और प्रकृति तथा आत्म और अन्य के बीच की खाई इतने अंधेरी और अलंघ्य जान पड़ती है। यह नहीं कि भारतीय साहित्यिक कृतियों में हमें ऐसे पात्र नहीं मिलते, जो आत्म छलनाओं के घटाटोप से विमुढ़ित नहीं होते, हमारी पौराणिक कथाओं में माया और यथार्थ की लीला अनवरत चलती है, किंतु ऐसी स्थितियाँ दुर्लभ हैं, जहाँ हैमलेट और किंगलियर की तरह मनुष्य स्वयं अपने यथार्थ के प्रति इतना सशंकित हो जाता है, अपने निर्णयों के औचित्य के बारे में आश्वस्थ नहीं हो पाता...यह कैसा विरोधाभास है कि जिस पश्चिम में मनुष्य बड़े दर्प, अभिमान और आक्रामक भाव से अपने को सृष्टि के केंद्र में अवस्थित करता है, वहीं वह अपनी प्रकृति के समक्ष स्वयं को इतना वध्य और वेध्य पाता है।

इसी संदर्भ में वर्मा (2024क : पृ.74) यह संकेत करते हैं कि 'महाभारत को न तो पश्चिमी अर्थ में 'इलियड' की तरह एक पूर्णतः सेक्यूलर महाकाव्य कहा जा सकता है और न ही बाइबिल की तरह एक विशुद्ध धार्मिक ग्रंथ। उसमें दोनों ही तत्त्व विधमान हैं।' निर्मल वर्मा के अनुसार पश्चिमी सोच चीजों को टुकड़ों में बाँटकर देखने की आदी है– जैसे अलौकिक और लौकिक, धार्मिक और सेक्यूलर। लेकिन भारतीय मानस में ऐसा कड़ा बँटवारा कभी रहा ही नहीं। यहाँ जीवन को एक साथ, पूरेपन में समझने की परम्परा रही है, जहाँ धर्म कोई अलग खड़ा खाँचा नहीं, बल्कि रोजमर्रा के जीने का ही हिस्सा है। वर्मा कहते हैं कि महाकाव्यों के मिथकीय नायक अपनी नियति से उतनी ही सहजता से जुड़े रहते हैं, जितना आदि मनुष्य दूसरे मनुष्य से जुड़ा हुआ था। महाकाव्य के मिथकीय नायकों का अपनी नियति से सम्बन्ध उतना ही समग्र और सहज है, जितना आदि मनुष्य का सम्बन्ध अन्य व्यक्ति से था। यानी यहाँ नियति कोई बाहर से थोपी गई ताकत नहीं, बल्कि जीवन की स्वाभाविक धारा है और यही वर्मा की दृष्टि में भारतीय सोच की खास पहचान है। वर्मा के लिए भारतीय मानस में पश्चिमी सोच जैसा विभाजन – अलौकिक और लौकिक, धार्मिक और सेक्यूलर नहीं है। महाकाव्य के मिथकीय नायक का अपनी नियति से सबन्ध उतना ही समग्र और सहज है, जितना आदि मनुष्य का सम्बन्ध अन्य व्यक्ति से था। वर्मा (2017 : पृ 165)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



निर्मल वर्मा किसी सभ्यता को अलग–अलग खाँचों में बाँटकर नहीं, बल्कि उसकी 'समग्र बनावट' में समझने की कोशिश करते हैं। उनके लिए 'सभ्यता–बोध का मतलब' किसी एक विचार, ग्रन्थ या संस्था से नहीं, बल्कि 'अर्थों के उस घने तंतुजाल' से है, जिसमें जीवन के तमाम अनुभव आपस में गुँथे होते हैं।''यह एक तरह की टेक्सचर है' –जहाँ हर धागा दूसरे धागे से जुड़ा है; एक अर्थ दूसरे को काटता भी है, टकराता भी है और फिर उससे नया अर्थ गढ़ता है। निर्मल वर्मा सभ्यता को अलग–अलग खाँचों में बाँटकर देखने के बजाय उसे उसकी पूरी समग्रता में समझने की कोशिश करते हैं। उनके लिए सभ्यता–बोध किसी एक विचार, ग्रन्थ या संस्था तक सीमित नहीं है, बल्कि वह अर्थों के उस घने जालसे बनता है जिसमें जीवन के तमाम अनुभव आपस में जुड़े रहते हैं। इस तरह सभ्यता कोई सीधी या सपाट संरचना नहीं, बल्कि अर्थों की आपसी निर्भरता से बनी एक जटिल और चलायमान व्यवस्था है। वर्मा, (2017:166) के अनुसार यूरोपीय मनुष्य का स्व उस ऐतिहासिक क्षण में खंडित हो गया, जब उसके रोजमर्रा के 'लौकिक जीवन और उसके आध्यात्मिक अनुभवों के बीच एक सख्त और स्थायी विभाजन खड़ा कर दिया गया।' पहले ये दोनों आयाम 'मनुष्य के भीतर एक ही समग्र जीवन–दृष्टि में जुड़े हुए थे। जीवन, आस्था, नैतिकता और अनुभव एक–दूसरे से अलग नहीं थे।' लेकिन आधुनिक यूरोपीय समाज में यह एकता टूट गई। लौकिक जीवन की जिम्मेदारी धीरे–धीरे राज्य के हाथ में चली गई और आध्यात्मिक जीवन को चर्च की अलग दुनिया में सौंप दिया गया। वर्मा (2024 घ : पृ. 63) कहतें हैं 'जिस विशिष्ट अर्थ में हम यूरोपीय इतिहास का उल्लेख करते हैं, जहाँ वह जीवन के विभिन्न मोड़ों को इंगित करता है, उस अर्थ में भारत का कोई इतिहास नहीं है। उनके अनुसार वाह्य परिवर्तनों के बावजूद भारत की मूल जीवनधारा में कोई बुनियादी अंतर नहीं आया है।' वर्मा (2024 घ) का मानना है कि यूरोप में जो बुनियादी बदलाव हुए, वे इतिहास में साफ–साफ दिखाई देते हैं। यूनानी संस्कृति का बिखराव, रेनसा का उभार, चर्च की पकड़ का ढीला पड़ना और फिर औद्योगिक क्रांति से लेकर आज तक का तेज तकनीकी विकास। इन तमाम मोड़ों ने यूरोपीय सोच और संवेदना की बनावट को भीतर तक बदल दिया। लेकिन इसके बिल्कुल उलट, अगर भारतीय चेतना इन झटकों से लगभग अछूती दिखती है, तो वर्मा के मुताबिक इसका मतलब

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


यह है कि इतिहास का दबाव यहाँ उसी तीव्रता से काम नहीं कर पाया। वे मानते हैं कि भारतीय चरित्र दरअसल दो सतहों के बीच गढ़ा गया है। एक तरफ रोजमर्रा के जीवन में इतिहास को मान लेना, और दूसरी तरफ गहरे दार्शनिक स्तर पर उसके दबाव को भारतीय मनीषा में लगभग नजर अंदाज कर देना। इसी दोहरे रवैये के भीतर भारत ने एक तरह का असाधारण संतुलन साध लिया था। वर्मा के अनुसार, यही संतुलन हमारी मूल सांस्कृतिक पहचान को जिंदा रखने का जरिया बना।

निर्मल वर्मा की यह स्थापना भारतीय संस्कृति की आंतरिक सहनशीलता और दीर्घकालिक निरंतरता को जरूर उजागर करती है, लेकिन इसे बिना सवाल किए स्वीकार कर लेना कठिन है। इतिहास के दबाव को यदि 'मनीषा के स्तर पर उपेक्षित' मान लिया जाए, तो यह अनजाने में यह संकेत देता है कि भारतीय समाज मानो गहरे ऐतिहासिक परिवर्तन, संघर्ष और टकरावों से लगभग अछूता रहा हो। जबकि हक़ीक़त यह है कि जाति–व्यवस्था, पितृसत्ता और सत्ता–संरचनाओं में आए निर्णायक बदलाव यह दिखाते हैं कि इतिहास ने यहाँ भी बराबर और कभी–कभी हिंसक तरीके से हस्तक्षेप किया है। इस संदर्भ में वर्मा का संतुलन–बोध दोहरा अर्थ ग्रहण करता है–एक ओर यह सांस्कृतिक अस्मिता को बचाए रखने की रणनीति लगता है, तो दूसरी ओर यह आशंका भी पैदा करता है कि कहीं यही संतुलन परिवर्तन के जरूरी दबावों से बचने और असमानताओं को स्वाभाविक ठहराने का वैचारिक उपकरण तो नहीं बन जाता। इसलिए प्रश्न यह नहीं है कि संतुलन था या नहीं, बल्कि यह है कि उस संतुलन की कीमत किन सामाजिक वर्गों ने चुकाई।

वर्मा का तर्क है कि इस बँटवारे ने मनुष्य को भीतर से तोड़ दिया। 'विज्ञान और दर्शन, ईश्वर और मनुष्य, लौकिक और आध्यात्मिक' के बीच जो ऊँची दीवारें खड़ी हुईं, उन्होंने मनुष्य को एक समग्र अस्तित्व के बजाय अलग–अलग खाँचों में बाँट दिया। कहीं वह 'केवल एक आर्थिक प्राणी बन गया, कहीं एक राजनीतिक नागरिक, और कहीं एक धार्मिक अनुयायी' (2017 : पृ 166)। इस प्रक्रिया में मनुष्य का 'स्व' किसी एक केंद्र से संचालित होने के बजाय टुकड़ों में बिखर गया। वर्मा की चिंता यह है कि इस विभाजन के साथ–साथ संस्कृति के वे सेतु भी धीरे–धीरे टूटते चले गए, जो मनुष्य के सेक्यूलर जीवन को उसके आध्यात्मिक अनुभवों से जोड़ते थे। जब ये सेतु

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


नष्ट हुए, तो जीवन का अर्थ केवल उपयोगिता, उत्पादन और व्यवस्था तक सीमित होता चला गया, जबकि आंतरिक अनुभव, नैतिक संवेदना और आत्मिक गहराई हाशिये पर चली गई। इस अर्थ में वर्मा आधुनिक यूरोपीय सभ्यता की आलोचना करते हुए यह संकेत देते हैं कि मनुष्य की मुक्ति केवल बाहरी प्रगति में नहीं, बल्कि जीवन के इन बँटे हुए आयामों के बीच फिर से संवाद स्थापित करने में निहित है। उनकी यह तुलना केवल पुरातन और आधुनिक त्रासदी का अंतर नहीं दिखाती, अपितु अर्थ, व्यक्ति और इतिहास के बदलते सम्बंधों को भी उजागर करती है। वर्मा की दृष्टि में 'आकीलिस' और 'कर्ण' जैसे पात्र अर्थों के ऐसे सांस्कृतिक संसार में स्थित हैं, जहाँ जीवन, मृत्यु और पीड़ा पहले से ही एक साझा अर्थ–संरचना में बंधी हुई हैं। यहाँ नियति कोई व्यक्तिगत संकट नहीं, बल्कि सामूहिक रूप से स्वीकृत सत्य है। इसी कारण कठोरता और हिंसा के बावजूद यह अनुभव व्यक्ति को भीतर से तोड़ता नहीं, क्योंकि उसे एक बड़े नैतिक और दैवीय क्रम में स्थान मिल जाता है।

निर्मल वर्मा की दृष्टि आधुनिक मनुष्य के अर्थ–संकट को गहराई से पहचानती है। उनका आग्रह है कि परम्परा, मिथक और स्मृति से निर्मित साझा अर्थ–संरचनाएँ व्यक्ति को अस्तित्वगत सहारा देती हैं, जहाँ पीड़ा, मृत्यु और हिंसा भी किसी व्यापक और स्वीकार्य ढाँचे में अर्थ पा ही लेते हैं। इसके विपरीत, हैमलेट आधुनिक चेतना का प्रतीक है, जहाँ ऐसे साझा अर्थ ढाँचे टूट चुके हैं। पिता की हत्या का अनुभव किसी 'महान आख्यान' में समाहित नहीं हो पाता, और एक निजी, असंगत तथा अनिर्णीत प्रश्न बनकर चेतना को लगातार मथता रहता है।

निर्मल वर्मा का जोर उस अर्थ–तंत्र पर है, जिसमें व्यक्ति एक साथ दो अर्थ संसारों से जुड़ा रहता है। सांसारिक यथार्थ और मिथकीय आध्यात्मिक बोध। उनके अनुसार, यही द्विस्तरीय अर्थ–संरचना आधुनिक मनुष्य को अकेलेपन और अर्थविहीनता से उबार सकती है। किंतु यहीं उनकी दृष्टि की एक सीमा भी स्पष्ट होती है। यह मान लिया जाता है कि अर्थ पहले से ही परम्परा और मिथक में उपलब्ध है, जिसे व्यक्ति केवल पुनः ग्रहण करता है। इससे यह सवाल उठता है – क्या ऐसी अर्थ संरचना व्यक्ति को, आस्तित्वात्मक पीड़ा, और शंका से गुजरते हुए, नया अर्थ स्वयं रचने की संभावना और उसकी स्वतंत्रता को छीन नहीं लेती?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


इस अर्थ में तो निर्मल की दृष्टि अस्तित्वगत संघर्ष को एक खुली, अनिश्चित प्रक्रिया के रूप में देखने के बजाय उसे पहले से अर्थवान नियति में रूपांतरित कर देती है। फलस्वरूप, आधुनिक मनुष्य की बेचौनी जो प्रश्न पूछती है, टकराती है और नया अर्थ गढ़ने की कोशिश करती है कमजोर पड़ सकती है। कहा जा सकता है कि दो अर्थ संसारों की यह रचना, में त्रासदी महा–आख्यान में अर्थवान हो सकती है, लेकिन संघर्ष की उस सृजनात्मक क्षमता को भी सीमित कर देती है, जहाँ से नया नैतिक बोध जन्म ले सकता था।

निर्मल वर्मा की दृष्टि भारतीय परम्परा की समन्वयात्मक और समग्र दृष्टि को उजागर करती है, लेकिन उसमें एक अंतर्निहित जोखिम भी है। जब वे भारतीय जीवन–दर्शन को पश्चिमी विभाजनकारी तर्कशीलता के बरक्स रखते हैं, तब कभी–कभी यह तुलना भारतीय परम्परा को अत्यधिक जैविक, सुसंगत और अंतर्विरोध–रहित रूप में प्रस्तुत कर देती है। उदाहरण के लिए सबसे महत्वपूर्ण महाकाव्य 'महाभारत' अपने आप में नैतिक दुविधा (धर्म–संकट), सत्ता–हिंसा, जातिगत संरचनाओं और लैंगिक असमानताओं से भरा हुआ ग्रंथ है जिसमें देवताओं का जिक्र तो है लेकिन उनका दखल कम ही है। यदि दिव्य–लौकिक या धार्मिक–सेक्यूलर के बीच के विभाजन को पूरी तरह नकार दिया जाए, तो इस महाकाव्य में भी उपलब्ध नैतिक और सामाजिक तनावों के आलोचनात्मक पाठ की संभावना भी सीमित हो जाती है। इसलिए आज समकालीन स्थितियों में, यह आवश्यक है कि हम भारत की विभिन्न परंपराओं को भी एक खुली, विवादग्रस्त और संघर्षशील प्रक्रिया के रूप में पढ़ने की कोशिश करे न कि केवल एक सामंजस्यपूर्ण सांस्कृतिक इकाई के रूप में, जिस पर निर्मल का जरूरत से ज्यादा जोर है।

असल में निर्मल वर्मा जिस आत्मकेंद्रित छवि का हवाला देकर उसे 'अन्य' से अलग कर रहे है क्या वो छवि यूरोप से बाहर नहीं रही? यूरोप से बाहर भी तो छोटे– बड़े जनसमूह एक विशेष भोगोलिक क्षेत्र में एक समाज की तरह रह ही रहे थे। तो क्या राजा, रजवाड़े और सत्तावान उसका नेतृत्व नहीं कर रहे थे?

निर्मल की चिंता यूरोपीय मनुष्य की आत्म केंद्रियता पर है, जो आधुनिकता के दौर में, तर्क–बुद्धि के साथ ईश्वर से भी अपनी वैधता लेकर शक्तिशाली राष्ट्र बना रही थी। हालाँकि भारतीय परिदृश्य में भी तो राजा–

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


रजवाड़े, रियासतें और सत्तावान अंग्रेजों के आगमन से पहले भी थे ही, तो क्या उनकी राजव्यवस्था में व्यक्तियों के बीच आत्मकेंद्रियता नहीं थी? अधिकतर राजा–रजवाड़े और सत्तावान तो निश्चित ही अपने अहम को पोषित करते थे, और अपनी विलासिता में संलग्न होकर आत्म–केंद्रित ही थे, हाँ यह जरूर है कि उनका संपर्क आमजन–जीवन से कम था। इस अर्थ में इन जन–समूहों (छोटे–बड़े समाजों) का ताना–बाना, धर्मिक तथा सामाजिक विश्वास, मिथक, देवी– देवताओं, रीति रिवाज, कर्मकांड आदि पर टिका था,[13] जो काफी हद तक एक बंद–समाज[14] ही था।

अंग्रेजों के भारत में दखल से पहले बाहर से जो भी विदेशी संस्कृतियाँ (ग्रीक, शक, यवन, कुषाण–हूण, तुर्क, अफगान मंगोल, मुगल, पुर्तगाल, डच आदि) आयी उन्होंने भारतीय जीवन पद्धति और सोच में (धर्म, दर्शन, कला, वाणिज्य ज्ञान –विज्ञान आदि) में कोई विशेष हलचल नहीं पैदा की थी और निर्मल वर्मा का कहना है कि भारतीय समाज अपने चारों तरफ की तमाम संस्कृतियों के प्रति कुछ हद तक बेपरवाह रहा। उनका तर्क है कि जब बाहर से आने वाले लोग चाहे वे यूनानी हों, चीनी यात्री हों या अरब व्यापारी, सबके सब भारत के धर्म, दर्शन, कला, और आध्यात्मिक परंपराओं में गहरी दिलचस्पी लेते रहे। उनके ग्रंथों और यात्रा–वृत्तांतों में इसका जिक्र मिलता है, तब भी भारतीय खुद इन बाहरी सभ्यताओं के प्रति कोई खास उत्सुकता नहीं दिखाते। वे अपने ही अनुभव संसार में तल्लीन थे। उन्हें दूसरों से सीखने या उनकी संस्कृति को समझने की आवश्यकता महसूस नहीं हुई। वर्मा (2024 ग) का मानना है कि इसका कारण यह था कि भारत में पहले से ही एक अत्यंत सूक्ष्म, आत्मनिर्भर और गहराई तक जमी हुई आध्यात्मिक व्यवस्था मौजूद थी। ऐसी व्यवस्था जो व्यक्ति की जिज्ञासाओं, चिंताओं और जीवन के रहस्यों का उत्तर स्वयं अपने भीतर खोज लेती थी। इसीलिए भारतीयों के लिए अपनी अस्मिता को 'अन्य' के सापेक्ष परिभाषित करने की जरूरत कभी नहीं पड़ी, जैसा कि यूरोपीय सभ्यता में हुआ। 'स्व' उनके लिए हमेशा आत्म–संदर्भीत था; 'अन्य' न तो उनके अस्तित्व के लिए कोई खतरा था, न ही उनकी मौलिकता का स्रोत। इस तरह 'अन्य' की उनकी अवधारणा मूलतः यूरोपीय अनुभव से भिन्न थी। निर्मल वर्मा की यह बात हमें थोड़ा अजीब लगती है कि भारतीयों के पारम्परिक जीवन में बाहरी लोगों का कोई ख़ास दख़ल और प्रभाव नहीं था, जिससे उसके धर्म का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


गठन होता है। निर्मल वर्मा के अनुसार भारतीय चेतना की बुनियाद भीतर की ओर देखने वाली, आत्मान्वेषी और आध्यात्मिक दृष्टि है, जहाँ मनुष्य स्वयं को ब्रह्मांड का स्वामी नहीं, बल्कि उसके साथ सह–अस्तित्व में जीने वाला प्राणी समझता है। इसके विपरीत यूरोपीय चेतना अहं केंद्रित है, जो मनुष्य को ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर उसे प्रकृति और अन्य जीवों पर अधिकार सौंप देती है। इस सोच में तर्क और प्रभुत्व केंद्रीय मूल्य बन जाते हैं, और मनुष्य स्वयं को समस्त सृष्टि से ऊपर स्थापित कर लेता है। यही शक्ति और वर्चस्व की वह अवधारणा है, जिसे निर्मल वर्मा यूरोपीय आधुनिकता की मूल प्रवृत्ति के रूप में रेखांकित करते हैं। वर्मा (2024 ग : पृ. 63) 'दो संस्कृतियो का प्रतिनिधित्व करती मनुष्य की दो छवियों' का जिक्र करते हैं। 'एक अपनी परम्परा में निहित अपने दायित्वों को पूरा करते हुए मोक्ष की तलाश करती है और दूसरी इतिहास द्वारा प्रदत्त और पोषित स्वातंत्र्य का दावा करते हुए शक्ति पाने का प्रयास।'

लेकिन निर्मल वर्मा का यह द्वैत भारतीय और यूरोपीय चेतना को बहुत सरलीकृत कर देता प्रतीत होता है। भारतीय परंपरा में भी सत्ता, हिंसा और वर्चस्व की प्रवृत्तियाँ मौजूद रही हैं, जबकि यूरोपीय चिंतन में आत्मालोचन और मानवीय संवेदना की धाराएँ भी मिलती हैं। पुरषोत्तम अग्रवाल वर्मा की इस समझ पर गंभीर सवाल उठाते हैं। वे कहते हैं : 'भारतीय समाज के उपनिवेशीकरण जैसे जटिल और दूरगामी अनुभव को दो सरलीकृत, सुपरिभाषित सांस्कृतिक छवियों के मुखामुखम में तबलील कर दिया गया, एक है ब्रिटिश = यूरोपीय = ईसाई और इसी ढर्रे के यांत्रिक अनुसरण पर है दूसरी छवि भारतीय = हिंदू।' (अग्रवाल, 2022 : पृ.28)

अग्रवाल के अनुसार, यूरोप ने जैसे अपने इतिहास में गैर–ईसाई तत्त्वों को या तो मिटा दिया या अपने भीतर जबरन समा लिया, वैसा ही भारत में भी हुआ है। वे मानते हैं कि निर्मल वर्मा की 'भारतीयता' की परिभाषा हमारे असली, जटिल और विविध ऐतिहासिक अनुभवों को समेटने की बजाय यूरोप की छवि का प्रतिबिंब बन जाती है। यानी यूरोपीय विचार के सामने 'हिंदू' एक प्रतिक्रिया के रूप में परिभाषित हो जाता है, न कि अपने स्वतंत्र आधार पर। अग्रवाल का आरोप तीखा है। वे कहते हैं कि वर्मा भारतीय संस्कृति की बात करते हुए सत्ता के प्रश्न से बच निकलते हैं। जबकि सत्य यह है कि यूरोप में 'मनुष्य' को विकास का अंतिम चरण मानने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



वाली धारणाएँ आखिरकार सर्वसत्तावादी विचार धाराओं में बदल गईं। पर यह याद दिलाना भी उतना ही जरूरी है कि दैवीय पदानुक्रम और श्रेष्ठता की भावना हिंदू आत्मबोध में भी मौजूद रही है। अगर हिंदू–आत्म दूसरे समुदायों के प्रति उदासीन दिखाई देता है, तो उसकी जड़ में यह विश्वास है कि उसकी श्रेष्ठता 'दैवीय रूप से निर्धारित' है। यहीं पर अग्रवाल का मूल प्रश्न खड़ा होता है – क्या मोक्ष की तलाश करने वाला व्यक्ति अपने धर्म में मौजूद शक्ति, वर्चस्व और असमानता के ढाँचे को नजर अंदाज करते हुए भी अपने प्रति ईमानदार रह सकता है? अग्रवाल साफगोयी से कहते हैं कि जाति सिर्फ सामाजिक ढाँचा नहीं, बल्कि पूरी एक सांस्कृतिक जीवन–दृष्टि है। और क्योंकि यह व्यवस्था धर्म की 'मोक्ष–दृष्टि' से वैधता प्राप्त कर लेती है, इसलिए इसे दैवीय समर्थन मिल जाता है और यही इसकी सबसे लंबी उम्र का रहस्य है। अग्रवाल (2022 : पृ.30) कहतें हैं :

भारतीय समाज की पितृसत्ता का अनुशासन भी जाति व्यवस्था से जुड़ा है। वर्णाश्रम – यह शब्द इसी दोहरे अनुशासन का वाचक है। मनुष्य का सामाजिक ही नहीं, आध्यात्मिक आस्तित्व भी इस अनुशासन के दायरे में है। इस कारण वर्णाश्रम असल में ब्रह्मांड व्यापी सर्वसत्तावाद है। इतनी सूक्ष्मता से जुड़ें है इसके तार कि यदि शुद्र मोक्ष की तलाश करने लगे, तो ब्राह्मण का बेटा अकाल मृत्यु का ग्रास बन जाता है और शुद्र के मोक्ष की तलाश मर्यादा पुरुषोत्तम को तलवार की धार पर जाकर संपन्न होती है। यहाँ जोर देकर कहने की जरूरत है की सामाजिक या राष्ट्रीय अस्मिता का सरोकार सिर्फ अन्य के बरक्स स्वयं को परिभाषित करने तक सीमित नहीं है। कोई भी समाज स्वयं अपने किसी अंश के साथ क्या सलूक करता है। यह अस्मिता के संदर्भ के गहरे सवाल हैं।

निर्मल वर्मा और पुरुषोत्तम अग्रवाल के विमर्श में परम्परा की अवधारणा दो भिन्न, दिशाओं में विकसित होती है। वर्मा के लिए परम्परा किसी स्थिर अनुष्ठानिक ढाँचे या सांस्कृतिक अवशेष का नाम नहीं, बल्कि वह अस्तित्वगत आधार है, जिसके माध्यम से मनुष्य अपने जीवन में अर्थ, अनुभव और आत्म– सम्बन्ध की निरंतरता प्राप्त करता है।

उनके अनुसार परम्परा मनुष्य की आंतरिक स्मृति, सौंदर्य बोध और आध्यात्मिक संवेदना की वह सांस्कृतिक भूमि है, जो व्यक्ति को उसके समय से परे स्थित व्यापक मानवीय क्षितिज से जोड़ती है। इसके समानांतर,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



अग्रवाल परम्परा की इस आध्यात्मिक और संवेदनात्मक संभावना को स्वीकार करते हुए भी उसके भीतर निहित सामाजिक शक्ति–संबंधों, जातिगत पदानुक्रम और वर्चस्व की ऐतिहासिक संरचनाओं की उपस्थिति को अनदेखा करने के प्रति सावधान करते हैं। उनका आग्रह है कि परम्परा की आलोचना तभी ईमानदार मानी जा सकती है जब वह आध्यात्मिक आत्मबोध के साथ–साथ उन ठोस सामाजिक तंत्रों को भी उजागर करे, जिनके माध्यम से असमानताएँ दैवीय वैधता के आवरण में स्थिर और दीर्घ जीवी बनी रहती हैं। इस दृष्टि से परम्परा न केवल अर्थ और स्मृति का स्रोत है, बल्कि शक्ति और वर्चस्व का स्थल भी है; अतः उसका अध्ययन तभी संपूर्ण हो सकता है जब वह अस्तित्वगत गहराई और सामाजिक न्याय दोनों की शर्तों को समाहित करे।

ऐसा लगता है कि निर्मलवर्मा के इसी सांस्कृतिक विमर्श को समकालीन परिपेक्ष्य में अम्बिकादत्त शर्मा अपने 'भारतीय मानस का वि–औपनिवेशिक' वाले प्रोजेक्ट में दार्शनिक स्तर पर के. सी. भट्टाचार्य, जड़ावलाल मेहता, यशदेव शल्य, अरविंद, गांधी और निर्मल वर्मा का पुनः पाठ कर भारत के वर्तमान संदर्भों में बढ़ने का प्रयास कर रहे है। शर्मा (2020:पृ.9) अपनी पुस्तक की शुरुआत में ही बता देते है कि 'औपनिवेशिकरण और उत्तर–औपनिवेशिक प्रभाव में भारत का कम से कम तीन बार आत्म विभाजन हुआ है।' शर्मा (2020) का मानना है कि भारतीय आत्म (स्व) में विभाजन की तीन पीड़ादायक दरारें उभरती हैं। पहली दरार तब पड़ी, जब ओरिएंटलिस्ट विद्वानों ने भारत के जीवित वर्तमान को उसके गौरवशाली अतीत से काट दिया और परम्परा, दर्शन व संस्कृति को महज बीते समय का वैभव कहकर आज को निरर्थक साबित किया। इससे भारतीय मानस में अपनी ही संस्कृति के प्रति गहरी हीन भावना घर कर गई। दूसरी दरार आजादी के बाद पड़ी, जब राष्ट्र–निर्माण की राजनीति में संस्कृति को किनारे कर दिया गया और सांस्कृतिक रूप से एकजुट भारत केवल एक औपचारिक राजनीतिक राष्ट्र–राज्य बनता चला गया। तीसरी दरार भाषा के स्तर पर उभरी, जहाँ अंग्रेजी भाषा सत्ता और अभिव्यक्ति की भाषा बन गई और भारतीय भाषाएँ हाशिये पर धकेल दी गईं। इन तीनों स्तरों पर आत्म का यह विखंडन न केवल ऐतिहासिक, बल्कि दार्शनिक संकट है –ऐसा संकट जिसमें भारतीयता स्वयं से दूर होती जाती है। शर्मा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



(2020) द्वारा रेखांकित 'भारतीय आत्म की यह त्रिस्तरीय विखंडन–प्रकिया' न केवल औपनिवेशिक प्रभावों की ऐतिहासिक परिणति को उजागर करती है, बल्कि यह निर्मल वर्मा के सांस्कृतिक विमर्श को समझने के लिए भी एक महत्वपूर्ण दार्शनिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करती है।

निर्मल वर्मा से अंबिकादत्त शर्मा (2020) तक विकसित होता यह सांस्कृतिक विमर्श समकालीन भारतीय चिंतन की एक धारा का प्रतिनिधित्व करता है। यह धारा निरंतर यह संघर्ष करती है कि भारतीय अस्मिता की पुर्नव्याख्या किसी संकीर्ण या विचारधारात्मक दायरे में न सिमटे। परंतु, समकालीन राजनीतिक वैज्ञानिकों और उत्तर औपनिवेशिक विचारकों के नजरिए से देखें तो इसकी दिशा सांस्कृतिक संरक्षणवाद या आत्म–संरक्षण की प्रवृत्ति से प्रभावित होती है। इस स्थिति में 'स्व' और 'अन्य' के मध्य संवाद का क्षेत्र सीमित हो जाता है, और सांस्कृतिक अस्मिता का प्रश्न सांप्रदायिक या संकुचित राष्ट्रवादी आग्रहों की छाया में आने लगता है।

इसी सन्दर्भ में आदित्य निगम (2023) ने भारतीय दर्शन और संस्कृत के अध्येताओं को कटघरे में खड़ा कर अंबिकादत्त शर्मा पर कड़ी आलोचनात्मक टिप्पणी की है, जो निश्चित ही हमें पुनः विचार के लिए बाध्य करती है। निगम (2023) बताते हैं कि जिन्हें हम आज 'हिंदू' कहतें हैं, मूलतः उस ब्राह्मण–वर्चस्व वाले समाज में, जाति और वर्ण–धर्म और जातिगत शुद्धता की प्रधानता थी। उसी व्यवस्था में विदेश जाने या अन्य संस्कृतियों से संपर्क रखने पर सामाजिक पाबंदी थी। संभव है, इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ने भारतीयों में 'अन्य' के प्रति एक प्रकार की उदासीनता या दूरी पैदा की हो। लेकिन फिर निगम (2023 : पृ.47) सवाल उठाते हैं : यदि 'अन्य' कभी भी भारतीय आत्म की परिभाषा का केंद्र–बिंदु नहीं रहा, तो आज जब दुनिया खुली संवाद की ओर बढ़ रही है, जब भारतीयता स्वयं अनेक वैश्विक संदर्भों से टकरा और बदल रही है, तो क्या इस परिवर्तन की दार्शनिक व्याख्या करना हमारे (भारतीय) दर्शनिकों का उत्तरदायित्व नहीं बनता?

ऐतिहासिक रूप से देखें तो भारत कभी भी 'अन्य' से अलग–थलग नहीं रहा। बौद्धधर्म का मध्य एशिया और चीन तक विस्तार, यूनानी प्रभाव, इस्लामी–सूफी संवाद, फारसी साहित्य का भारतीय ज्ञानपरम्परा और काव्य पर असर ये सब निर्मल वर्मा और अंबिकादत्त शर्मा दोनों की धारणा को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



चुनौती देते हैं कि भारतीयों को बाहरी संस्कृतियों में कोई रुचि नहीं थी। निगम के हवाले से कहा जा सकता है कि वर्मा और अंबिकादत्त की बात सांस्कृतिक आदान–प्रदान की इन परतों को अनदेखा कर देती है।

भारत का 'अन्य' के प्रति उदासीन रहना दरअसल उस ऐतिहासिक प्रवृत्ति को भी दिखाता है, जिसमें विविध संवादों और अंतर–सांस्कृतिक सीखने की प्रक्रियाएँ सीमित रहीं। उत्तर–औपनिवेशिक चिंतक जैसे कि पार्थोचटर्जी (1993 : पृ. 6–11) और आशीष नंदी (1983 : पृ.1–5) इस आत्म निर्भरता को 'उपनिवेशोत्तर पुनर्निर्माण की प्रतिक्रिया के रूप में देखते हैं'। यानी पश्चिमी आधुनिकता के दबाव में भारतीय परम्परा को एक बंद, आत्म–संरक्षणशील इकाई के रूप में परिकल्पित किया गया। नंदी (1983) औपनिवेशिक अनुभव को 'आत्म' के विघटन के रूप में देखते हैं और बताते हैं कि औपनिवेशोत्तर समाजों में परम्परा की ओर लौटना प्रायः एक रक्षात्मक, आत्म–संरक्षणशील प्रतिक्रिया के रूप में उभरता है। मेरा मानना है – यद्यपि निर्मल वर्मा भारतीय परम्परा में 'अन्य' को न तो विरोधी मानते हैं, न प्रति स्पर्धीय। उनके अनुसार भारतीय सांस्कृतिक चेतना में 'अन्य' का अनुभव किसी तनाव की बजाय आध्यात्मिक आत्मविश्वास से संचालित होता है, तथापि इस भिन्नता को केवल आध्यात्मिक आयाम में सीमित कर देखना पर्याप्त नहीं होगा। इसे सामाजिक और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य से भी समझने की आवश्यकता है। भारतीय समाज में 'अन्य' की स्वीकृति प्रायः पदानुक्रमिकता (हैरार्की) और सहिष्णुता (टालरेंश) के मध्य स्थित रही है। जहाँ स्वीकार तो था, पर समानता का विचार अक्सर सीमित ही रहा। इस दृष्टि से यह कहना कि भारतीय 'अन्य' से उदासीन या अछूते रहे, एक आंशिक निष्कर्ष होगा। वास्तव में, संवाद हुआ, पर वह संवाद भारतीय आत्म–निष्ठ विश्व दृष्टि की शर्तों पर निर्मित था। एक ऐसा संवाद जो समानता से अधिक समावेशन पर आधारित था। लेकिन समकालीन विमर्श में निर्मल वर्मा और अंबिकदत्त शर्मा का दृष्टिकोण एक जटिल प्रश्न खड़ा करता है – क्या भारतीय आत्मनिर्भर आध्यात्मिकता, आत्म–मुक्ति का माध्यम है या यह आधुनिकता और वैश्वीकरण की प्रक्रियाओं के प्रति एक सांस्कृतिक प्रतिक्रिया भी हो सकती है? वर्तमान वैश्विक संदर्भों में, जहाँ अंतर–सांस्कृतिक संवाद और सह–अस्तित्व की आवश्यकता बढ़ रही है, आत्म–संरक्षण की यह प्रवृत्ति समान रूप से सृजनात्मक और सीमित। दोनों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



संभावनाएँ समेटे हुए प्रतीत होती है। निर्मल वर्मा का चिंतन भारतीय सभ्यता, आत्म–चेतना और परंपरा– संवेदनशीलता को उदघाटित तो करता है और उनकी यह दृष्टि सांस्कृतिक आत्म निर्भरता की दार्शनिक वैधता को रेखांकित करती है, परंतु इसके भीतर यह जोखिम भी रहता है कि यह आत्मनिर्भरता, संवाद और पारस्परिकता के उन आयामों को सीमित कर दे, जिनसे किसी भी जीवित संस्कृति की जीवंतता सुनिश्चित होती है।

वर्मा की मुख्य चिंता आंतरिक आत्मबोध की है, उनका मानना है कि अपने गहरे आत्म–संदर्भों को बनाए रखते हुए, व्यक्ति 'अन्य' के अनुभव के साथ एक नई संवाद परक चेतना का निर्माण कर सकता है। लेकिन पुरुषोत्तम अग्रवाल ने निर्मल वर्मा की विचार–स्थिति की कड़ी आलोचना मुख्यतः वर्ण और जाति व्यवस्था के संदर्भ में की है। उनका मानना है कि वर्मा परम्परा के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक पक्ष को रेखांकित करते हुए उसके भीतर निहित सामाजिक असमानताओं को नहीं देखते हैं। निर्मल वर्मा की प्राथमिक चिंता स्वयं की पहचान और आत्म–परक अनुभव के माध्यम से 'अन्य' को समझने की प्रक्रिया से जुड़ी प्रतीत होती है, लेकिन इस आत्म परक अनुभव की प्रक्रिया में व्यक्ति अपने मन में पड़े उन संस्कारों को भी प्रश्नांकित करे जिसके द्वारा भारतीय समाज के पदानुक्रम में नीचे स्थित लोगों का अन्यीकरण, दीर्घकाल से, प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से होता रहा है। ये संस्कार प्रभुत्वशाली शास्त्रीय परम्पराओं ने मनुष्य के मानस पर इस प्रकार अंकित किए हैं कि 'स्व' से 'अन्य' का संवाद सम्भव नहीं दिखाई देता है। अगर परम्परा को बिना तर्क के मान लें तो फिर निर्मल वर्मा जिस तरह पाश्चात्य परम्परा की सशक्त आलोचना कर भारतीय परम्परा की ओर लौट रहे हैं उन्हें सचेत होकर भारतीय परम्परा के उन संस्कारों पर भी सवाल उठाना चाहिए जिसने सवर्ण और अवर्ण, ब्राह्मण और शूद्र, पुरूष और स्त्री, के बीच सहज संवाद की सम्भावना को खत्म कर दिया। निर्मल वर्मा का बार–बार परम्परा की तरफ झुकना क्या सामाजिक पदानुक्रम की पुष्टि नहीं करता है? मेरा मानना है कि आत्म–परिष्कार, आत्मालोचना बिना अहंकार और दम्भ के स्रोत पर प्रहार किए सम्भव नहीं होती है। इसलिए मनुष्य को अपने इहलौकिक अनुभवों और मानवीय संवेदना के आधार पर परम्परा से मिले संस्कारों को सदैव अपनी तार्किक बुद्धि से प्रश्नांकित करना चाहिए, जिससे कि वह वर्तमान में बिना किसी पूर्वाग्रह के 'अन्य' के साथ साहचर्य का सम्बन्ध बना सके।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


यह रोचक और महत्वपूर्ण है कि इस संदर्भ में भक्ति आंदोलन का उदाहरण प्रासंगिक है, जिसका संकेत निर्मल वर्मा और पुरूषोतम अग्रवाल दोनो ही अपने–अपने चिंतन में अलग–अलग तरह से करतें हैं, निर्मल का कहना है कि भक्ति परम्परा ने सामाजिक और धार्मिक कट्टरता, पाखंड और रूढ़ियों पर जिस गहराई और व्यापकता से प्रश्न उठाए, वह इसलिए संभव हो पाया क्योंकि उसकी आलोचना केवल बाहर से आयातित बौद्धिक तर्कों पर नहीं, बल्कि भारतीय समाज के जीवनदर्शन और अनुभव जन्य यथार्थ पर आधारित थी। इसलिए ही, भक्ति कवियों के हस्तक्षेप ने जन–चेतना को झकझोरा, क्योंकि वे अपने समय की संस्कृति, भाषा और सामाजिक संरचना के भीतर से बोल रहे थे। वो जोर देकर कहतें हैं : मीरा, तुलसी और कबीर एक दूसरे से भिन्न क्यों ना हों, उनकी परम्परा का संदर्भ बिंदु एक ही है, इसलिए वो भारतीय जनमानस को इतने गहन और व्यापक स्तर पर आलोड़ित कर सकते थे। भारतीय समाज की रूढ़िगत जड़ता को तोड़ने में यदि उनका हस्तक्षेप इतना महत्त्वपूर्ण था तो इसलिए की एक कवि मनीषी आधुनिक सेक्यूलरिस्ट बुद्धिजीवियों की तरह अपने हस्तक्षेप के अपने हथियार किसी वाह्य तर्क विधान से आयातित नहीं करते, बल्कि स्वयं अपनी परम्परा के जाने–पहचाने, जनसाधारण सुलभ अनुभवों और संदर्भों में ही टटोलतें थे। अपने समाज की सार्थक आलोचना वही कर सकता है जो कहीं ना कहीं गहरे स्तर पर उनकी मूलस्थापनाओं से जुड़ा होता है। (वर्मा, (2024ख : पृ.122)

निर्मल वर्मा की उपरोक्त स्थापना निस्संदेह विचारोत्तेजक, सुसंगत और प्रथम दृष्टया विश्वसनीय प्रतीत होती है; किंतु इसी आकर्षण के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि इसे अंतिम निष्कर्ष मान लेने के बजाय, इसकी दार्शनिक पूर्व धारणाओं, अंतर्निहित सरलीकरणों और अनकहे निषेधों की गहन आलोचनात्मक मीमांसा की जाए। जब भक्ति संत, पुरातन प्रथा, रूढ़ियों, धार्मिक कर्मकांडों से सीधे–सीधे टकरा रहे थे, तो क्या वो असल में, सामाजिक संरचनाओं के भीतर से ही अर्थ निकाल रहे थे या फिर वो समाज में एक नयी अर्थ–संरचना का निर्माण अपने रोजमर्रा के जीवन के संवेदात्मक अनुभव और बोध से कर रहे थे। मेरा आशय है कि कबीर और मीरा तत्कालीन समाज में प्रचलित मर्यादा या परम्परा जिसे आज हम रूढ़ियाँ या प्रथा कह रहे हैं, को तोड़ रहे थे तो क्या वो अपनी तरह की एक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



अनोखी आधुनिकता नहीं थी, जिसके अर्थ–तत्त्व उन्होंने अपने ही समाज व्यवस्था के ही विरोधाभास से विकसित किए थे। यहाँ यह भी ध्यान देना आवश्यक है कि जिसे हम आज रूढ़ि, प्रथा या कर्मकांड आसानी से कह देतें हैं, उस समय ये सब ही, प्रचलित मर्यादा, परम्परा, धर्मिक अनुष्ठान के रूप में जनसाधारण में विद्यमान थीं। यद्यपि निर्मल वर्मा उस अनुभव–आधारित वैकल्पिक संसाधन की खोज करतें है जिसे पश्चिम की आधुनिकता और औपनिवेशिक ज्ञान–ढाँचे ने हाशिये पर धकेल दिया, लेकिन वो इसकी खोज करते–करते कई बार आत्मिक आदर्शवाद की वीरान ऊँचाइयों में आ जाते हैं, जहाँ से उनसे संवाद करना कठिन हो जाता है। निर्मल वर्मा की उपनिषदीय आत्म केंद्रित अहम वाली इस दार्शनिक परियोजना में परम्परा अतीत की धरोहर नहीं है जो वर्तमान में संग्रहालय का हिस्सा बनें और वह ना ही कोई ऐतिहासिक साक्ष्य या पुरातत्व (आर्काइव) है जिस पर इतिहास खड़ा किया जा सके। शायद इसलिए ही, वे इतिहास की बौद्धिक प्रक्रिया की आलोचना करते हुए परम्परा की सृजन प्रक्रिया को उससे अलग और श्रेष्ठ बताते हैं। वर्मा (2017 : पृ.164) के लिए 'भारतीय सभ्यता बोध कोई बीती हुयी याद ना होकर आज भी मेहंदी की तरह हर व्यक्ति की जीवन प्रणाली के कार्य अनुष्ठानों (धार्मिक संस्कार, तीज, त्योहार, उत्सवों) में रची बसी है।' वर्मा कहतें हैं कि भारतीय जीवन प्रणाली ने अतीत को ना ही इतिहास समझकर त्याग दिया और न ही उसे केवल बीते समय का अवशेष बना रहने दिया। इसके बजाय अतीत को उसने वर्तमान जीवन की प्रतीकात्मक बनावट में परम्परा के रूप में इस तरह से गढ़ा कि वह आज भी अर्थ और संस्कार का स्रोत बना हुआ है। परम्परा को संग्रहालयी वस्तु या मात्र ऐतिहासिक आर्काइव से अलग रखकर वर्मा भारतीय सभ्यता–बोध की उस जीवंतता को रेखांकित करते हैं, जो रोजमर्रा के अनुष्ठानों, पर्वों और सामाजिक आचरण में निरंतर पुनः निर्मित होती रहती है। इस दृष्टि से वर्मा आधुनिक ऐतिहासिक चेतना की उस प्रवृत्ति की आलोचना करते हैं, जो अतीत को केवल बौद्धिक वस्तु में बदल देती है और उसके अनुभूत, नैतिक तथा सांस्कृतिक आयामों को खो देती है।

लेकिन यहीं एक मुश्किल भी खड़ी होती है। जब वर्मा परम्परा को इतिहास से अलग और उससे बेहतर मानते हैं, तो इतिहास की आलोचनात्मक भूमिका निश्चित ही कमजोर पड़ जाती है। मेरा मानना है कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


इतिहास सिर्फ सूखी जानकारी नहीं होता; वही हमें यह समझने का औजार भी देता है कि कौन–सी परम्पराएँ किनके हित में बनीं और किन लोगों जैसे स्त्री, दलित और आदिवासी को इन परम्पराओं से बाहर कर दिया गया। अगर इस सवाल को नजर अंदाज कर दिया जाए, तो परम्परा अपने भीतर मौजूद सत्ता और असमानताओं पर पर्दा डाल सकती है।

यहीं से यह सवाल उठता है कि निर्मल वर्मा का अपना अंतर्मन आखिर किन श्रोतों से बना है? क्या वह सिर्फ सांस्कृतिक स्मृति, संस्कारों और प्रतीकों से गढ़ा गया है, या उसमें आधुनिकता, औपनिवेशिक अनुभव और सामाजिक टकरावों की छाया भी है? अगर अंतर्मन को इतिहास से पूरी तरह अलग कर दिया जाए, तो आत्मचिंतन की जगह वह एक चुनी हुई और सुरक्षित सांस्कृतिक पहचान बनकर रह जाती है (सईद, 1978)। इसलिए परम्परा की समझ को बनाने के लिए 'उसे इतिहास और सत्ता के सवालों से जोड़े बिना 'स्व' और 'अन्य' के रिश्ते को पूरी तरह समझ पाना मुश्किल हो जाता है' (रिक्योर, 1984 : पृ. 52–87)। यहीं एक सैद्धांतिक तनाव उभरता है। जब वर्मा परम्परा की सृजनात्मक प्रक्रिया को इतिहास की बौद्धिक प्रक्रिया से 'अलग और श्रेष्ठ' ठहराते हैं, तब वे इतिहास को सत्ता, संघर्ष और बहुल अनुभवों की आलोचनात्मक भूमि के रूप में देखने की सम्भावनाओं को ही सीमित कर देते हैं। इतिहास मात्र शुष्क बौद्धिक संरचना नहीं,बल्कि वही माध्यम है जिसके जरिए यह समझा जा सकता है कि कौन–सी परम्पराएँ किन सामाजिक शक्तियों द्वारा संरक्षित की गईं और कौन–सी आवाजें स्त्री, दलित, आदिवासी इस प्रतीकात्मक बनावट से बाहर कर दी गईं।

इस प्रकार, वर्मा की परम्परा–दृष्टि भारतीय अनुभव की जीवंतता को समझने का एक सशक्त औजार देती है, लेकिन उसे इतिहास की आलोचनात्मक चेतना से संवाद में लाए बिना वह अपने ही प्रश्नों स्व, अन्य और सत्ता को पूरी तरह संबोधित नहीं कर पाती।

**निर्मल वर्मा की विषयिता (अंतर्मन) का गठन : तनाव और आत्मसंवाद**

निर्मल के स्वयं के अंतर्मन का निर्माण शुरुआत में मार्क्सवाद के प्रभाव में हुआ, लेकिन बाद में चिकोस्लोवकिया प्रवास के दौरान जब उन्हें यथार्थ में मार्क्सवाद के स्टालिनवादी संस्करण का कटु अनुभव हुआ जहाँ लेखकों/कलाकारों को अपनी आवाज बुलंद करने और स्वतंत्र लेखन के लिए भारी कीमत चुकानी पड़ी और पीड़ादायक यातनाओं से गुजरना पड़ा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



तो फिर उनका मार्क्सवाद से मोहभंग हुआ। निर्मल वर्मा के लिए साहित्य/कृति और लेखक/कलाकार की स्वतंत्रता पवित्र है। उनका मानना है कि इसके लिए किसी भी हद तक संघर्ष किया जाना चाहिए। अपूर्वानंद (2008 : पृ.174) लिखते हैं :

निर्मल जी ने अपने चिकोस्लोवकिया प्रवास के दौरान देखा कि एक लेखक किस तरह राज्यसत्ता की वैधता को चुनौती देता है और ऐसा करते हुए व कितने रूपों में अपनी सृजनात्मकता की रक्षा करता है, क्योंकि उसके लिए उसकी अभिव्यक्ति सबसे पवित्र वस्तु होती है। वही उसकी निजता का और वैयक्तिकता का प्रमाण है। उसका सम्पूर्ण लेखन राज्यसत्ता द्वारा प्रस्तुत समष्टि के आदर्श में इस निजता की विलक्षणता को विलुप्त कर देने के विरुद्ध सतत संघर्ष बन जाता है और एकाधिक बार ऐसा भी हुआ है कि इसके लिए अपने शारीरिक आस्तित्व का लोप भी करना पड़ा है।

अपूर्वानंद (2008) मानते हैं कि मार्क्सवाद से निर्मल का मोहभंग हुआ, क्योंकि उन्होंने मार्क्सवाद के स्टालिनवादी संस्करण को ही प्रामाणिक मान लिया और उसकी पीड़ा का असर उन पर हमेशा रहा। अपूर्वानंद, मार्क्सवाद के बारे में निर्मल की समझ को प्रश्नांकित करते हैं, और स्टालिनवाद और मार्क्सवाद की मंशा और प्रयोजन में मूलभूत अंतर करते हैं उनका कहना है कि स्टालिनवादी समाजवाद समष्टि के हित के बारे में बात करते हुए अन्ततोगत्वा राज्य या पार्टी हित के साथ ही खड़ा होता है और व्यक्ति की स्वतंत्रता की बलि देने को समाजीकरण मानता है। जबकि मार्क्स अपने चिंतन में व्यक्ति को उसके प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश में पूरी संवेदनात्मक समृद्धि के साथ स्वतंत्र करना चाहते थे। अपूर्वानंद का तर्क सैद्धांतिक रूप से समचीन लगता है, क्योंकि मार्क्स का चिंतन इतिहास को आकस्मिक घटनाओं का सिलसिला नहीं, बल्कि उत्पादन–संबंधों, श्रम और वर्ग–संघर्ष से संचालित एक अर्थपूर्ण प्रक्रिया के रूप में समझाता है। यह शोषण, असमानता और सत्ता के भौतिक आधारों को उजागर करता है तथा इतिहास को नैतिक उपदेशों के बजाय वास्तविक सामाजिक संरचनाओं से जोड़कर देखने की क्षमता देता है। 1914 के दौर में औपनिवेशिक दुनिया, जिसे बाद में तीसरी दुनिया कहा गया, में क्रांतिकारी संघर्ष की परंपरा स्थापित हो चुकी थी। 'लेनिन ने 1914 से पहले ही इन देशों में क्रांति की संभावना का स्वागत किया' और माना कि इससे यूरोप के मजदूर आंदोलनों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


को बल मिलेगा।[15] एशिया और अफ्रीका के कई देशों में औपनिवेशिक दमन और विदेशी हस्तक्षेप के कारण लंबे समय तक सैन्य शासन बना रहा। ऐसी स्थिति में क्रांतिकारी समूहों के लिए सशस्त्र संघर्ष ही एकमात्र रास्ता दिखाई देता था। इसी कारण इन समाजों में समाजवाद, राष्ट्रीय मुक्ति और किसान चेतना आपस में जुड़ गईं।

इसी संदर्भ में मेरा मानना है कि निर्मल वर्मा की अनुभवगत चेतना के हवाले से कह सकते हैं कि किसी भी विचारधारा का मूल्याँकन केवल उसके सैद्धांतिक ढाँचे से नहीं, बल्कि इस प्रश्न से भी जुड़ा है कि वह व्यवहार में मनुष्य और समाज को किस दिशा में ले जाती है। मेरी समझ में उनकी असली चिंता यह है कि जब किसी भी विचारधारा में 'ऐतिहासिक अनिवार्यता' को बहुत ज्यादा अहमियत दे दी जाती है, तो व्यक्ति धीरे–धीरे इतिहास को गढ़ने वाला नहीं, बल्कि किसी बड़े प्लान का पुर्जा मात्र बनकर रह जाता है। ऐसे में 'दूसरा' चाहे वह प्रकृति हो या दूसरा व्यक्ति, अपने आप में साध्य न रहकर बस बदलाव की प्रक्रिया में इस्तेमाल होने वाला साधन मात्र बन जाता है।

स्टालिनवादी समाजवाद का अनुभव इसी खतरे को सामने लाता है, जहाँ बड़े ऐतिहासिक लक्ष्य के नाम पर हिंसा को गलत या नैतिक सवाल नहीं, बल्कि इतिहास को आगे बढ़ाने का तरीका मान लिया गया। निर्मल वर्मा की चिंता यहीं टिकती है कि कहीं आजादी और इंसाफ का सपना मानवीय संवेदना, जिम्मेदारी और करुणा को पीछे छोड़कर तो पूरा नहीं हो रहा।

निर्मल वर्मा एक साहित्यकार के रूप में, व्यक्ति की सहज संवेदनाओं को अपने लेखन में केंद्रीय स्थान देते हैं। शायद इसी कारण वे मार्क्सवाद के स्टालिनवादी रूप से विमुख हो जाते हैं और भारतीय दर्शन की आध्यात्मिक परम्परा की ओर झुकते दिखायी देते हैं। यह भी संभव है कि बचपन में मिले हिंदू संस्कार, उनके अवचेतन में रहे हों, जो आगे चलकर उनकी चेतना में उभर आए। वे स्वयं अपने बचपन के धार्मिक संस्कार की बात करते हुए एक इंटरव्यू[16] में बताते हैं : हमारे परिवार के साथ एक दिक्कत यह रही को वह एक उन्मूलित परिवार रहा।.......

उन्मूलन का भाव मेरे परिवार में बराबर बना रहता था, जैसा की लालटीन की छत में आया है। लेकिन इसकी क्षतिपूर्ति हमेशा एक अलग

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


ढंग से होती रहती, क्योंकि शिमला जैसे शहर में उस समय कई साधु संन्यासी आते रहते और अक्सर हमारे घर आकर भी रहते थे। हम बच्चों के लिए वह एक गहरा और बड़ा चमत्कार होता था, विशेषकर तब जब वे नाचते हुए गाते थे और अनुष्ठान किया करते थे। इसके अलावा मैंने जिन बहन का जिक्र किया था वो देवी काली के प्रति उनकी गहरी आस्था मुझ जैसे बच्चे के लिए हमेशा कोतुहल का विषय हुआ करती थी। काली मंदिर शिमला में बहुत उचाई पर था, लेकिन हर शाम वहाँ जाते थे। (बाजपेयी, 2017 : 25–26)

अन्ततोगत्वा, कहा जा सकता है कि निर्मल के 'स्व' का निर्माण, उनके विदेशी (बाहर) और भारतीय अनुभव, बुद्धि और भाव, तर्किकता और धार्मिकता, भौतिकता और प्रत्ययवाद, मार्क्सवाद और हिंदू परम्परा, के अंतरद्वंद्व से हुआ। इसी कारण, वो अप्रत्यक्ष रूप से हमें कभी मार्क्सवादी, आस्तित्ववादी और बौधदर्शन के करीब जाते नजर आते हैं तो कभी आध्यात्मिक, अद्वैत वेदांती और गांधीवादी और फिर कभी–कभी परम्परावादी और राष्ट्रवादी या फिर कुछ लोगों को भारत – व्याकुल भी दिखाई देने लग जाते हैं।

मेरे दृष्टिकोण में एक बात उनके चिंतन में सर्वमान्य है कि वो हमेशा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के पक्षधर रहे।, लेकिन उनकी समझ इसे केवल संवैधानिक अधिकार तक सीमित नहीं करती। उनके लिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मूलतः 'आंतरिक नैतिक स्वतंत्रता' से जुड़ी हुई है। ऐसी स्वतंत्रता जो बाजार, विचारधारा या सत्ता के प्रभावों और दबावों से पूरी तरह से मुक्त हो। वो मानते हैं कि जब अभिव्यक्ति केवल प्रतिक्रिया, प्रचार तंत्र या शोर में बदल जाती है, तब वह अपनी सार्थकता खो देती है। इसीलिए निर्मल स्वतंत्रता के साथ 'जिम्मेदारी, संवेदना और आत्मानुशासन' पर जोर देते हैं (वर्मा : 2024ग)।

उनकी दृष्टि आज के समय में जरूरी तो है लेकिन साथ ही यह प्रश्न भी उठता है कि कहीं यह नैतिक आग्रह असहमति और राजनीतिक प्रतिरोध की तीव्रता को सीमित तो नहीं कर देती।

निर्मल वर्मा की पाश्चात्य आधुनिकता पर की गई कड़ी आलोचना को उनके अंतर्मन की बनावट से अलग करके नहीं समझा जा सकता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


उनके यहाँ आधुनिकता केवल ऐतिहासिक या सैद्धांतिक अवस्था नहीं, बल्कि एक ऐसी मानसिक स्थिति है जो मनुष्य के भीतर के जीवन और बाहर की तर्कशील व्यवस्था के बीच दूरी पैदा करती है। शायद निर्मल वर्मा भी अपने अंतस में द्वंद्व और पीड़ा से गुजर रहे थे, इसलिये वे स्मृति, मिथक और साझा अर्थ के टूटने को आधुनिक 'अहं' के बढ़ाव से जोड़ते हैं, जहाँ साधनवादी सोच, नैतिक संवेदना पर हावी होने लगती है। ऐसे में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से सामने आता है कि यदि आधुनिकता को केवल व्यक्ति की आंतरिक टूटन और अस्तित्वगत संकट के रूप में समझा जाए, तो क्या उसकी सामाजिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक संरचनाएँ हाशिए पर नहीं चली जातीं।

इसी बिंदु पर निर्मल वर्मा की आधुनिकता की आलोचना और उत्तर औपनिवेशिक चिंतकों की दृष्टियों को आमने–सामने रखकर एक दार्शनिक विश्लेषण करना जरूरी है, ताकि आधुनिकता को केवल आत्मानुभूति नहीं, बल्कि सत्ता, इतिहास और वर्चस्व से जुड़ी एक जटिल बहुस्तरीय प्रक्रिया के रूप में भी समझा जा सके।

**आधुनिकता की आलोचना : निर्मल वर्मा और उतर–औनिवेशिक चिंतक**– निर्मल वर्मा के चिंतन में भारतीय दर्शन की विभिन्न परम्पराओं , विशेषतः वेदांत और बौद्ध दर्शन का गहन प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। वे पाश्चात्य आधुनिकता की कड़ी आलोचना करते हुए उसके मूलभूत आयामों बुद्धिवाद, इतिहासवाद और भौतिकतावाद से सवाल करते हैं। निर्मल वर्मा की आधुनिकता की आलोचना असल में कोरी तर्क–बुद्धि पर अत्यधिक बल देने की आलोचना ही है। पाश्चात्य बुद्धिवाद (विशेष तौर पर डेकार्ट, स्पिनोजा, लिबनित्स) अनुभव, संवेदना और मौन के क्षणों को लगभग भुला देता है और अमूर्त प्रत्यय तथा वस्तुकरण को ही समझ का मानक बना लेता है। यह वही तर्क–प्रधान प्रवृत्ति है जिसकी ओर सईद (1978) ने भी संकेत किया कि पश्चिमी ज्ञान–व्यवस्था 'पूर्व' को वस्तु बनाकर प्रस्तुत करती है और उसकी जटिलताओं और संदर्भो को मिटा देती है। निर्मलवर्मा (2011) भी कहते हैं कि ऐसी तार्किकता के कारण 'अन्य' मात्र साधन बन जाता है। यहाँ पर बौद्ध परम्परा के प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धांत, प्रज्ञा–करूणा की ओर संकेत करते हुए कहा जा सकता है कि ज्ञान का आधार केवल तर्क नहीं, बल्कि परस्पर निर्भर कार्य–कारण सम्बन्ध के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


अंतर्गत इंद्रियानुभव और मानसिक संवेदनाओं और अनुभूतियों से उपजा हुआ बोध है। इसी के चलते वर्मा ज्ञान को तर्क और भावना के द्वंद्व से निकालकर एक गहरी, सवेंदनात्मक मेघा के रूप में स्थापित करना चाहते हैं।

गौर से देखें तो निर्मल वर्मा इतिहास को ख़ारिज नहीं करते, बल्कि उनकी आपत्ति उस इतिहास–बोध से है जिसे हम इतिहासवाद कहते हैं। इतिहासवाद वह सोच है जिसमें इतिहास को सीधी रेखा में आगे बढ़ती हुई 'प्रगति' की एक मात्र कथा मान लिया जाता है। इसमें अतीत केवल वर्तमान के लिए कच्चा माल बनकर रह जाता है, जबकि स्मृतियाँ, मिथक और परम्परा के अलग–अलग समय और अर्थ को दरकिनार कर दिया जाता है। फलस्वरूप, समुदाय की जीवित स्मृति और परम्परा का सिलसिला टूट जाता है। उत्तर–औपनिवेशिक चिंतक होमीभाभा (1994) भी अपने चिंतन में दिखाते हैं कि उपनिवेशी सत्ता रैखिक प्रगति की एकमात्र कहानी गढ़कर उपनिवेशित समाजों की बहुलता को दबा देती है। निर्मल वर्मा इतिहासवाद की इस प्रवृत्ति को 'स्व और अन्य' के रिश्ते को विकृत करने वाला मानते हैं। 'स्व' को आधुनिक प्रगति के केंद्र में खड़ा किया जाता है, और 'अन्य' जो भिन्न सांस्कृतिक परंपराओं या वैकल्पिक जीवन–विश्वों का प्रतिनिधित्व करता है, उसे पिछड़ा या अप्रासंगिक ठहराया जाता है। इसके बरअक्स, निर्मल 'परंपरा' को एक जीवित धारा मानते हैं, जो अतीत और वर्तमान को जोड़ती है और जिसमें 'स्व' और 'अन्य' के अनुभव सह–अस्तित्व में रहते हैं। यह दृष्टि उत्तर–औपनिवेशिक विमर्श में 'हाइब्रिडिटी' और 'डिफरेंस' पर बल देने वाली प्रवृत्तियों से संवाद करती नजर आती है, हालांकि निर्मल का जोर आत्मिक बोध और परम्परा की निरंतरता पर अधिक है। आधुनिक भौतिकतावाद और उपभोक्तावाद की आलोचना में निर्मल वर्मा दिखाते हैं कि जब यथार्थ का पैमाना केवल भौतिक जगत तक सीमित हो जाता है, तो उसका वस्तुकरण (कोमोडिफिकेशन) हो जाना तय है। ऐसे में आध्यात्मिक, नैतिक और सौंदर्यात्मक आयामों को 'व्यक्ति परक' कहकर उनकी अवहेलना कर दी जाती है। जिससे जीवन में अर्थहीनता तथा अकेलापन बढ़ता है। फिर यही उपभोक्तावादी संस्कृति 'स्व' और 'अन्य' के रिश्ते को भी प्रभावित करती है, क्योंकि जब मनुष्य केवल लाभ और उपभोग की दृष्टि से दूसरों को मापनें और आकनें लगता है, तो 'अन्य' मात्र वस्तु या साधन–भर रह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


जाता है। इसी स्थिति की आलोचना हमें गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक की चिंता में भी मिलती है। जहाँ 'अन्य' की आवाज उपभोग और सत्ता की भाषा में दबा दी जाती है। ऐसा लगता है – निर्मल इस संकट का समाधान बौद्धधर्म के कार्य–कारण सिद्धान्त– (दुःख समुदय और दुःख–निरोध) की समझ और वेदांत के विवेक–वैराग्य की साधना में देखते हैं। उनके लिए असली समृद्धि केवल उपभोग में नहीं, बल्कि एक अर्थपूर्ण और साझा जीवन में ही है, जहाँ 'स्व' और 'अन्य' दोनों की गरिमा बनी रहती है।

निर्मल वर्मा के लिए परम्परा मनुष्य की उस गहरी चेतना का प्रतीक है जो समय और समाज के परिवर्तन के बावजूद अर्थ की खोज में जीवित रहती है। वर्मा की पीड़ा है कि औपनिवेशिकता और आधुनिकता ने भारतीय मनुष्य को उसके स्व – यानी उसके आत्म–बोध और सांस्कृतिक चेतना से अलग कर दिया। सुधीश पचौरी निर्मल वर्मा के द्वंद्व को समझते हुए लिखतें हैं : निर्मल के यहाँ उभय आत्मा रहतें हैं। एक यूरोपीय है जिसे मारना है दूसरा भारतीय जिसे जिलाना– बचाना है। समस्या यह है कि एक को मारने से दूसरा नहीं बचता। दोनों दो सौ साल से जनक–जन्य रहें हैं, भ्रूण कोखहंता होकर स्वयं कैसे जिये? यहीं निर्मल में बार–बार लौटा पिता और उसका पितृ पक्ष है। इसलिए निर्मल भारत भारती की आर्तपुकार और आत्म गौरव से बहुत अलग किस्म की यातना से गुजरते हैं। उसमें भारत–भारती जैसा आर्तनाद नहीं है ना उसमें आगे जैसा मौन और शालीन कुलीनता की धीरज है। उसमें एक नास्तिक की आस्तिक किस्म की छटपटाहट है। (2023 : पृ.46)

निर्मल वर्मा का द्वंद्व किसी सरल पूर्व–पश्चिम विरोध का नहीं, बल्कि एक गहरे अस्तित्वगत आत्म–द्वंद्व का है। उनके भीतर आधुनिक, यूरोपीय चेतना और भारतीय सांस्कृतिक स्मृति साथ–साथ उपस्थित हैं। दोनों औपनिवेशिक इतिहास में आपस में गुँथी हुई हैं, इसलिए एक का निषेध दूसरे को भी क्षतिग्रस्त करता है।

यूरोपीय आत्म आलोचनात्मक विवेक देता है, तो भारतीय आत्म अर्थ, साहचर्य और परम्परा का आश्रय। निर्मल की पीड़ा इसी तनाव से जन्म लेती है। उनके लिए परम्परा शुद्ध वापसी नहीं, बल्कि टूटे हुए स्वत्व को जोड़ने की बेचैन कोशिश है। न पूर्ण आस्था, न पूर्ण निषेध, बल्कि अर्थ की खोज में भटकती चेतना।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


यहाँ यह ध्यान देना जरूरी है कि निर्मल वर्मा का यह आत्म–द्वैत केवल औपनिवेशिक विरासत का मनोवैज्ञानिक संकट नहीं रह जाता, बल्कि वह समकालीन सामाजिक–राजनीतिक यथार्थ से कतराने का जोखिम भी उठाता है। यूरोप वाली सोच को ठुकराने और भारतीय आत्मा को बचाने की जो चाहत है, वह कई बार असली ताकत के सवालों जैसे वर्ग, जाति और हिंसा से सीधे टकरा नहीं पाती। तब यह बेचैनी समाज को बदलने वाली आलोचना बनने के बजाय, ज्यादातर मन की अंदरूनी पीड़ा बनकर रह जाती है। ऐसे में सवाल उठता है – निर्मल की यह छटपटाहट कैसी और क्यों है? क्यों वो बार–बार परंपरा की ओर लौटते हैं? उनका परम्परा बोध क्या है?

**निर्मल का परम्परा–बोध : दार्शनिक विश्लेषण**

निर्मल का विश्वास है कि परम्परा, सांस्कृतिक चेतना की स्मृति है जो व्यक्ति को अपने 'स्व' की गहराई में उतरने और 'अन्य' के साथ संबंधों में नैतिकता देखने की प्रेरणा देती है। हम निर्मल के परम्परा बोध को मुख्यतः तीन बिंदुओं में समझने की कोशिश कर सकतें हैं – पहला, निर्मल वर्मा अपने संग्रह 'दूसरे शब्दों में' एक लेख का शीर्षक ही 'परम्परा–बोध में द्वंद्व' देते हैं जहाँ पर वो परम्परा को परिवर्तन और निरंतरता दोनों से ही समझने की कोशिश करते हैं। शुरुआत में ही ग्रीक दार्शनिक हेराक्लाइटस[17] और बौद्ध दर्शन के हवाले से परिवर्तन और आत्म/पहचान के सृजन बारे में बताते हैं :

मनुष्य का यह दुःख सबसे बड़ा है कि जो रोका नहीं जा सकता वह उसे रोकने का प्रयास करता है (जैसे समय) और यही उसका अभिशाप भी है। रोकने की हड़बड़ी में वह उसे खो देता है जो उसका अपना है, अपने की पहचान, उसका आत्म, अपना जो हर परिवर्तन को झेलता हुआ अपने को गढ़ता है, गढ़ने की यह प्रक्रिया व्यक्ति द्वारा होती हुई भी सिर्फ व्यक्ति तक सीमित नहीं रहती। अनिवार्यता यह अन्य से अपने को जोड़ती है, अन्य जो समाज है, संसार है, सृष्टि है। (वर्मा, 2024ख : पृ.62)

यद्यपि बौद्ध दर्शन आत्मा को एक स्थायी तत्त्व के रूप में नहीं स्वीकारता, वह अनात्मवाद के अपने सिद्धांत में चेतना को निरंतर गतिमान प्रक्रिया के रूप में समझता है। बौद्ध दृष्टि में 'आत्म' कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं, बल्कि पंच स्कन्धों[18] (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) का एक प्रवाही समुच्चय है–जिसमें निरंतर परिवर्तन और क्रिया होती रहती है। इस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


निरंतरता की अनुभूति, अर्थात् संसार के अनुभव की समझ, अंततः भाषा और अर्थ से ही संभव होती है। संसार को जानने और व्यक्त करने का माध्यम 'शब्द' ही है; और जैसे ही हम किसी वस्तु या अनुभव को अर्थ प्रदान करते हैं, वह शब्द (वर्ड), एक संसार (वर्ल्ड) में रूपांतरित हो जाता है। निर्मल वर्मा इसी को अपना प्रस्थान बिंदु बनाकर एक दार्शनिक अंतर्दृष्टि प्रस्तुत करते हैं। वे लिखते हैं कि – 'आत्म–चेतना और शब्द का जन्म साथ–साथ होता है; एक के बिना दूसरा अर्थहीन है।' (वर्मा, 2024 : 62) इस कथन में निर्मल वर्मा न केवल भाषा और चेतना के पारस्परिक सम्बन्ध की ओर संकेत करते हैं, बल्कि यह भी स्पष्ट करते हैं कि 'स्व' और 'अन्य' के बीच संवाद का आधार ही भाषा है। आगे, वर्मा यह स्पष्ट करते हैं कि आत्म–चेतना 'शब्द' को पवित्र तो मानती है, पर उसे किसी स्थिर या अंतिम अर्थ में बाँधती नहीं। उनके लिए शब्द की पवित्रता उसकी गतिशीलता में निहित है। वह अर्थ को अपने भीतर कैद नहीं करता, बल्कि उसे खुले आकाश में छोड़ देता है, ताकि अर्थ निरंतर नई व्याख्याओं और सम्बन्धों में प्रस्फुटित होता रहे। फिर यदि किसी परम्परा में शब्द यदि अंतिम सत्य का फरमान ले आए तो फिर वो परम्परा अन्य शब्द को नेस्तनाबूद करने पर आमादा हो जाती है। निर्मल कहते हैं : अतीत में भी धर्म पुस्तक की छाया तले अनेक धार्मिक द्रोहियों को जलाया जाता रहा है, कौन कह सकता है कि हमारे समय में जिन हतभागे लोगों को शिविरों और यातना शिविरों में नष्ट हो जाना पड़ा उनके अंत की शुरुआत उस ब्रिटिश लाइब्रेरी से नहीं हुई थी जहाँ एक जर्मन यहूदी बहुत तन्मयता से एक पुस्तक लिखने में जुटा हुआ था क्या उसे मालूम था कि उसके बाद की शताब्दी में एक दूसरे देश में उसके क्या–क्या दुष्परिणाम होंगे! (वर्मा, 2024ख : पृ.63)

किसी भी परम्परा में रूढ़ि की ग्रंथि उसे प्रथा, अंधश्रद्धा, अंधभक्ति और अंधविश्वास बना के छोड़ती है, जो हमेशा वर्चस्व, हिंसा, निषेध और दमन को प्रोत्साहित करती है। निर्मल वर्मा का तर्क है– वही परम्परा जीवंत और मुक्त होती है जो किसी व्यक्ति विशेष, परम पुस्तक, समय काल से बंधी नहीं होती। परम्परा का निर्माण केवल कोरे सिद्धांत, विचार, शब्दों और उनके अर्थ से नहीं होता, बल्कि विभिन्न प्रकार के लोकहित में किए जाने वाले कर्मों (नैतिक, धर्मिक, राजनीतिक, सामाजिक) से होता है। वह स्वतंत्र कर्म जिसके लिए मनुष्य स्वयं जिम्मेदार होता है। यद्यपि मनुष्य की प्रकृति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



भी वही है जो वाह्यजगत की प्रकृति है, जो कि परिवर्तनशील है। ऐसे में जब मनुष्य का सामना 'अन्य' के साथ होता है तो स्वभाविक ही द्वंद्व होता है और फिर मनुष्य को उन मूल श्रोत की ओर जाना पड़ता है जिसे हम परम्परा कह सकतें हैं। परम्परा के इसी द्वंद्व को दिखाते हुए निर्मल लिखतें है : महाभारत और रामायण के सबसे मर्मांन्तक दृश्य वहीं है, जहाँ मनुष्य स्वयं अपनी परम्परा अपने धर्म, अपनी कर्तव्य निष्ठा के सम्बंध में संदेहशील हो जाता है – उसे समझ में नहीं आता सही रास्ता कौन सा है और किस दिशा में जाता है? हमें इस सुखद भ्रम से छुटकारा पाना होगा की परम्परा अपने में द्वंद्व हीन होती है। (वर्मा, 2024ख : पृ.66)

इस संदर्भ में देखें, तो मनुष्य के अंतस (अंतर्मन) में तमाम स्मृतियों का भंडारण है, जहाँ से मनुष्य अन्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए नैतिक मूल्यों का पूरी जिम्मेदारी के साथ चुनाव करता है, और ऐसा लगता है। निर्मल के लिए इसी प्रक्रिया में परम्परा बनती है। उनकी दृष्टि में स्मृतियों के भंडारगृह में तमाम नौतिक और धर्मिक मूल्यों का एक ताना–बाना होता है जो 'स्व' को 'अन्य' के साथ एक जीवन पद्धति के निर्माण के लिए दिशा–निर्देश देता हैं।

जब निर्मल वर्मा नैतिक मूल्यों के चयन की जिम्मेदारी मुख्यतः व्यक्ति पर रखते हैं, तो यह प्रश्न अनिवार्य रूप से सामने आता है कि वह व्यक्ति इस चयन में वास्तव में कितना स्वतंत्र है। यदि व्यक्ति को सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सत्ता–संरचनाओं से अलग करके एक स्वायत्त इकाई के रूप में देखा जाए, तो यह एक आदर्श स्थिति प्रतीत होती है। व्यावहारिक स्तर पर मनुष्य के नैतिक निर्णय हमेशा उन्हीं सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के भीतर बनते हैं, जिनमें वह जीता है। इसलिए नैतिक चयन न तो पूरी तरह स्वतंत्र होता है, न ही पूरी तरह निर्धारित। बल्कि वह इन संरचनाओं के प्रभाव, दबाव और कभी–कभी उनके प्रतिरोध के बीच घटित होता है।

परम्परा–बोध चेतना से भी जुड़ती है, जहाँ आत्म और जगत, 'मैं' और तू, 'स्व' और 'अन्य' विरोधी नहीं, बल्कि एक ही चेतना के दो आयाम हैं। इस अद्वैत की दार्शनिक भूमि पर निर्मल वर्मा अपने परम्परा–बोध का निर्माण करते हैं। परम्परा 'स्व' और 'अन्य' के बीच संवाद की सांस्कृतिक रूपरेखा है, जिसमें अलगाव नहीं, बल्कि परस्परता और सह–आस्तित्व है। निर्मल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


वर्मा कहतें है: भारतीय परम्परा ने इस द्वंद्व के सत्य को पहचाना था, इसलिए उसने चिंतन और दर्शन के क्षेत्र में पहली बार अद्वैत के क्रांतिकारी सिद्धांत को प्रतिपादित किया, जहाँ आत्म और अन्य के बीच को ही आत्म–छालना का कारण बताया गया। जिस संस्कृति में अन्य एक अजनबी, अनात्मीय और पराई सत्ता न रहकर स्वयं का ही वृहत्तर रूप माना जाता रहा हो, वहाँ अन्य के होने से अपने को खतरा नहीं जान पड़ता, वह कोई विरोधी शत्रु तत्त्व नहीं है, जिस पर अपने को आरोपित करने से ही सुरक्षा का आभास मिलता हो या उसे अपने रूप में ढालनें से (जो धर्म परिवर्तन में परिलक्षित होता है।) ही अपने आस्तित्व की सुरक्षा की जाती हो। अब अन्य सिर्फ एक वस्तु, महज एक आब्जेक्ट नहीं रह जाता, वह अन्य के डिसकोर्से का ही एक अंग बन जाता है। (2024 ख : पृ.121)

वास्तव में निर्मल का जोर आत्म और उसके विस्तार पर है, जिसमें 'अन्य' कोई बाहर नहीं बल्कि अनेक छवियों में व्यक्ति के अंतरतम में ही विधमान है, उनके लिए, आत्म–चेतना की वह निरंतर धारा है जो मनुष्य को अपने अस्तित्व के गहरे तल पर आलोड़ित करती है। मनुष्य में चेतना केवल वाह्यमुखी और विषय के प्रति नहीं, बल्कि अंतर्मुखी होकर स्व–चेतनता में अनेक बिम्बों से संवाद करती प्रतीत होती है और जिसकी अभिव्यक्ति स्मृति के माध्यम – काव्य, कला, भाषा से हो सकती है। निर्मल के लिए 'अन्य' केवल बाहर नहीं, बल्कि व्यक्ति की चेतना के अंतरतम में प्रतिबिम्बित होकर लगातार व्यक्ति के अहम से टकराता रहता है। वर्मा बताते हैं :

भारतीय परम्परा चूँकि किसी एक पर परम पुस्तक या पैगंबर के संदेश से नहीं जुड़ी है। उसे आत्म और अन्य के रिश्ते को संयोजित करने, उसे अपने भीतर बद्धमूल श्रोतों की ओर जाना पड़ता है, जिसे हम परम्परा का नाम देते हैं। अतः परम्परा कोई बंद, ठहरी हुई, जड़ चीज नहीं है, वह जो अन्य है, बाहर है, अपने से अलग है, उसे अपने भीतर ढालने को अनवरत प्रक्रिया और प्रयास से यह रूपायित होती है। (वर्मा 2024ख : 65)

निर्मल वर्मा परम्परा को एक जीवित दार्शनिक क्षेत्र मानते हैं, जहाँ 'स्व' और 'अन्य' का द्वंद्व संवाद में बदलकर आत्म–चेतना की निरंतरता को सम्भव बनाता है। यह दृष्टि आधुनिक विखंडन के विरुद्ध अर्थ और साहचर्य का नैतिक विकल्प प्रस्तुत करती है। किंतु दार्शनिक समस्या यह है कि यह परम्परा अक्सर एक समन्वित और उपचारक संरचना के रूप में ग्रहण कर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



ली जाती है। सामाजिक यथार्थ में 'स्व – अन्य' का सम्बन्ध सत्ता, वर्चस्व और ऐतिहासिक असमानताओं से निर्मित होता है। ऐसे में परम्परा संवाद का माध्यम बनने के साथ–साथ बहिष्करण और मौन का उपकरण भी हो सकती है। अतः मेरी दृष्टि में परम्परा को संघर्षशील और सत्ता–सापेक्ष प्रक्रिया के रूप में ही पढ़ना चाहिए।

तीसरा बिंदु है – परम्परा को अस्तित्वगत सुरक्षा के रूप में समझना। वर्मा के अनुसार आधुनिक युग का मनुष्य भौतिक रूप से सम्पन्न होते हुए भी अस्तित्वगत रूप से असुरक्षित है। उपनिवेशवाद, तकनीकी आधुनिकता, और उससे उपजी उपभोगवादी संस्कृति ने व्यक्ति को अर्थहीनता और अकेलेपन में धकेल दिया है, क्योंकि इसमें विखंडन की वृति हावी है और सामूहिकता का आभाव होता है और इस तरह अंततः व्यक्ति अकेला होता चला जाता है। वैदिक दर्शन की मूल आध्यात्मिकता संस्थापन– 'ऋत'[19] की (कॉस्मिक) व्यवस्था पर विश्वास करते हुए निर्मल 'स्व' तथा 'अन्य' (प्रकृति) के सामंजस्य का ताना–बाना परम्परा के धागे से बुनने की कोशिश करते प्रतीत होते हैं। नंदकिशोर आचार्य (2021 : पृ.24) निर्मल वर्मा के आध्यात्मिक समग्रता–बोध का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि निर्मल के अनुसार 'हर मानव समाज में 'स्व' और 'अन्य' के बीच द्वंद्व होना स्वाभाविक है। इसी तनाव से परम्परा बार–बार नया रूप ग्रहण करती है।' लेकिन प्रश्न यह है कि 'इस द्वंद्व का समाधान क्या है? पश्चिम का हल क्या है या तो अपने को नष्ट कर देना है या जिसे अन्य मना जाता है उसको नष्ट कर देना। आधुनिक यूरोपीय सभ्यता ने मुख्यतः दूसरे रास्ते को अपनाया है।' पर निर्मल के अनुसार अद्वैत की दार्शनिक गहराई से अन्वेषण करें तो 'अन्य' का नाश करना वास्तव में स्वयं का नाश करना है, क्योंकि इस प्रक्रिया में आत्म अपनी परम सत्ता से कटकर एक संकुचित अहम में सिमट जाता है। तब आत्म का अर्थ व्यापक चेतना नहीं रह जाता, बल्कि वह केवल अहंकार बनकर रह जाता है। निर्मल वर्मा इस आत्म–हनन और पर–हनन से अलग एक तीसरे विकल्प खोजनें की बात करते हैं। अहम के हनन का विकल्प। आधुनिक भारत में इसकी शुरुआत रामकृष्ण परमहंस से होती है और निर्मल वर्मा बताते हैं कि बाद में इसका ही सबसे सशक्त प्रतिनिधित्व महात्मा गांधी करते हैं। नंद किशोर (2021 : पृ.24) के अनुसार निर्मल वर्मा जिस मार्ग की ओर संकेत करते हैं, 'वह केवल आधुनिक भारतीय चेतना में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


पैदा हुए विभाजन का समाधान नहीं सुझाता, बल्कि यूरोपीय सभ्यता के भीतर मौजूद टूटन को समझने और पाटने की संभावना भी खोलता है। इसी दृष्टि से भारत और यूरोप के बीच एक नए, अधिक गहरे और मानवीय संवाद का रास्ता सामने आता है।' निर्मल वर्मा के अनुसार परम्परागत समाज में मनुष्य और प्रकृति का सम्बन्ध केवल भौतिक नहीं था, बल्कि मिथक, बिम्ब, देवी– देवताओं और कर्मकांडों से निर्मित एक पारलौकिक अर्थ–संसार के माध्यम से स्थापित होता था। यही संरचना मनुष्य को 'अन्य' के साथ सामंजस्य और आत्मिक सुरक्षा प्रदान करती थी। इसके विपरीत, आधुनिक समाज में तर्क–बुद्धि की प्रधानता ने भावनात्मक और प्रतीकात्मक आयामों को हाशिये पर धकेल दिया। वर्मा का तर्क है–आधुनिक आत्मचेतना आत्म–आलोचनात्मक होने के बजाय अहं–केंद्रित होती चली गई, जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य असुरक्षा, भय और संशय से ग्रस्त हो गया और 'अन्य' को सह–अस्तित्वशील सत्ता की जगह उपभोग की वस्तु मानने लगा।

आधुनिक मनुष्य ने विज्ञान और तकनीक के माध्यम से प्रकृति के प्रत्यक्ष आतंक से काफी हद तक मुक्ति अवश्य पाई है, फिर भी वह पहले से अधिक भय, असुरक्षा और अस्तित्वगत संकट से जूझता हुआ प्रतीत होता है। निर्मल वर्मा इस संकट का मूल कारण आधुनिक अहं के अति–विस्तार में देखते हैं और इसका लगभग समस्त दोष पाश्चात्य आधुनिकता पर आरोपित करते हैं। उनके अनुसार पश्चिमी तर्क–बुद्धि ने मनुष्य को मिथक, स्मृति और सामूहिक अर्थ–संरचनाओं से विच्छिन्न कर दिया है, जिससे जीवन का गहन अर्थबोध नष्ट हुआ। किन्तु इस आलोचना की एक गंभीर सीमा यह है कि वर्मा भारतीय परम्परा के भीतर निहित उन्हीं प्रतीकात्मक और शास्त्रीय संरचनाओं पर मौन साध लेते हैं, जिन्होंने वर्ण–व्यवस्था, पितृसत्ता और सामाजिक पदानुक्रम को वैधता प्रदान की। इन अर्थ–संरचनाओं ने शूद्रों, स्त्रियों और आदिवासी समुदायों को ऐतिहासिक रूप से 'अन्य' के रूप में स्थापित कर उनके 'स्व' के विकास को बाधित किया (आंबेडकर, 1936य थापर, 2004)। विडम्बना यह है कि जिन वर्गों को भारतीय परम्परा के प्रभुत्वशाली बौद्धिक ढाँचों ने हाशिये पर धकेला, उन्हें आधुनिकता, विशेषतः औपनिवेशिक आधुनिकता से उपजे समानता, अधिकार और आत्मसम्मान के विमर्श ने ही आत्म–अभिव्यक्ति का वैचारिक संबल प्रदान किया (फुले, 1873य फैनन, 1952)। इस अर्थ में पाश्चात्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



आधुनिकता केवल 'विच्छेदन' की प्रक्रिया नहीं रही, बल्कि उसने परम्परा की आक्रामक और अनुशासनकारी सत्ता को प्रश्नांकित करने की आलोचनात्मक भाषा भी उपलब्ध कराई।

ऐसे में यह प्रश्न अनिवार्य हो जाता है कि क्या पारम्परिक भारतीय समाज वास्तव में भय–मुक्त था, जैसा कि निर्मल वर्मा मानकर चलतें है? या फिर शास्त्रों और प्रभुत्वशाली प्रतीकों की अर्थ–संरचना ने भय, दंड और नैतिक अनुशासन के माध्यम से जनसाधारण को नियंत्रित किया? (फूको,1977)। निर्मल वर्मा पाश्चात्य तर्कशीलता और उसके अहं–केन्द्रित स्व की तो तीखी आलोचना करते हैं, पर भारतीय परम्परा के भीतर निहित सत्ता, वर्चस्व और बहिष्करण की राजनीति और उससे बनने वाली अर्थ–संरचना को पर्याप्त रूप से संबोधित नहीं करते। यही उनकी आधुनिकता–आलोचना की सबसे बड़ी दार्शनिक सीमा है।

**निर्मल वर्मा और उत्तर औपनिवेशिक विमर्श के बीच तनाव और संवाद**

निर्मल के 'परम्परा–बोध' पर उतर–औपनिवेशिक विमर्श को और चिंतकों के हवाले से समकालीन परिदृश्य में कुछ जरूरी सवाल खड़े होते है, जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती है – क्या यह 'परम्परा –बोध' उन आवाजों को सचमुच समाहित कर पाती है जो इसके दायरे से शुरू से ही बाहर रही हैं? 'स्व और अन्य' की समस्या क्या केवल सांस्कृतिक पहचान का प्रश्न है, या फिर सत्ता–इतिहास और आत्म–परिष्कार की बहुस्तरीय और जटिल प्रक्रिया से जुड़ा है? क्योंकि, कोई भी जीवित परम्परा परलोक में नहीं विचरण करती; वह अपने सांस्कृतिक परिवेश में, वर्तमान में ही अस्तित्ववान होती है। ऐसे में उसकी अन्य परंपराओं, संस्कृतियों और विचारधाराओं से टकराहट स्वाभाविक है। यह टकराहट केवल वैचारिक नहीं, बल्कि सत्ता–संबंधों और सामाजिक वर्चस्व से भी जुड़ी होती है। जब परम्परायें अपने–अपने सत्य को अंतिम मान लेती हैं, तब संस्कृतियों का संवाद धीरे–धीरे 'संस्कृतियों के संघर्ष' में बदल जाता है। यहीं वर्मा की दृष्टि पर एक आलोचनात्मक प्रश्न उठता है, क्या भारतीय परम्परा का स्वर अक्सर आत्म–संरक्षण का ही है, आत्म–समीक्षा का नहीं?

वर्मा की उपादेयता इस बात में निहित है कि वे परम्परा को किसी जड़, बंद और पहले से तय ढाँचे की तरह नहीं देखते, बल्कि उसे एक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


जीवित, संवादशील और लगातार अर्थ गढ़ने वाली प्रक्रिया के रूप में सामने रखते हैं। इस अर्थ में वर्मा उस आधुनिक सोच को चुनौती देते हैं जो परम्परा को मात्र अवरोध या पिछड़ेपन का प्रतीक मानती है।

उपरोक्त संदर्भ में यह देखना रोचक है कि उत्तर–औपनिवेशिक सिद्धांत–विशेषतः एडवर्डसईद, होमी भाभा और गायत्री स्पिवाक की दृष्टियों में निर्मल वर्मा की आत्म–संदर्भी परम्परा वाली परियोजना कई स्तरों पर प्रश्नांकित होती है। सईद (1978) जहाँ ओरिएंटलिज्म के माध्यम से यह दिखाते हैं कि पश्चिमी डिस्कोर्स 'पूर्व' को सत्ता द्वारा निर्मित काल्पनिक अन्य में बदल देता है, निर्मल वर्मा, एडवर्ड सईद की ओरिएंटलिज्म वाली स्थापना से पूरी तरह असहमत नहीं हैं, लेकिन उन्हें लगता है कि सईद एक जरूरी बात नजर अंदाज कर देते हैं। वर्मा (2024 ख : पृ.55) के अनुसार 'एशिया और भारत के कई औपनिवेशिक बुद्धिजीवी पहली बार अपनी सांस्कृतिक परम्पर को उन्हीं यूरोपीय विद्वानों के शोध और अनुवादों के जरिये पहचान पाए।' यह मानते हुए भी कि इन यूरोपीय विद्वानों ने गैर–पाश्चात्य अनुभव को अपनी भाषा, अपने खाँचों और अवधारणाओं में ढाल कर कई जगह विकृत किया, निर्मल यह सवाल उठाते हैं कि क्या सारी जिम्मेदारी केवल पश्चिम पर डाल दी जा सकती है? उनका कहना है कि औपनिवेशिक मानसिकता के कारण हमने खुद भी उन निष्कर्षों को बिना सवाल किए स्वीकार कर लिया। इसलिए, समस्या यह नहीं कि यूरोपियों की व्याख्याएँ कितनी सही या गलत थीं, बल्कि यह है कि क्या हमने कभी उन्हें अपनी स्वाधीन चेतना से परखा भी या नहीं। यहीं से निर्मल का रुख सईद से थोड़ा अलग हो जाता है। सईद जहाँ ज्ञान और सत्ता के रिश्ते को केंद्र में रखते हैं, वहीं निर्मल ज्यादा जोर आत्मिक और सांस्कृतिक आत्मबोध पर देते हैं। लेकिन इसी बिंदु पर उनकी सोच की सीमा भी सामने आती है। भारतीय अनुभव को वे अक्सर एक मूल, लगभग अखंड 'भारतीयता' के रूप में देखने लगते हैं, मानो उसके भीतर गहरे ऐतिहासिक तनाव, टूटन और विविध आवाजें मौजूद ही न हों। यह दृष्टि उत्तर–औपनिवेशिक सोच से टकराती है, जो पहचान की बहुलता, अनुभव की हाइब्रिड प्रकृति और इतिहास के अंतर्विरोधों को स्वीकार करती है।

होमी भाभा (2004 : पृ.36–39) अपने 'थर्ड स्पेस', 'हाइब्रिडिटी' और 'कॉन्टेस्टेड मॉडर्निटी' के माध्यम से यह स्थापित करते हैं कि उपनिवेशित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



अनुभव कभी भी शुद्ध, स्थिर या एकरेखीय नहीं होता। यह न तो पश्चिमी आधुनिकता का पूर्ण प्रतिरोध है, और न ही पूर्व–औपनिवेशिक परम्परा की शुद्ध पुनरावृत्ति। भाभा के अनुसार, उपनिवेशित जीवन की वास्तविकता हमेशा एक मध्य–क्षेत्र (इन–बिटवीन जोन) में घटित होती है, जहाँ संस्कृतियाँ परस्पर संवाद, अनुवाद और संघर्ष के माध्यम से निरंतर रूपांतरण की अवस्था में रहती हैं। यही 'थर्ड स्पेस'[20] वह स्थान है जहाँ पहचान, अर्थ, और इतिहास किसी भी स्थिर रूप में उपलब्ध नहीं होते; वे हमेशा निर्माणाधीन (इन– प्रसेस ऑफ बीकमिंग) होते हैं। इस ढाँचे में उपनिवेशित व्यक्तित्व मूलतः 'अधूरा–होता' (इन–कम्प्लीट–बीकमिंग)[21] है, न पूरी तरह उपनिवेशित, न पूरी तरह स्वायत्त; उसकी पहचान प्रवाहशील, बहुस्तरीय और लगातार पुनर्निर्मित होती रहती है। भाभा (2004) के लिए यही अधूरापन उपनिवेशित अनुभव की रचनात्मक शक्ति है। यह किसी भी तरह की सांस्कृतिक मौलिकता, शुद्धता या पूर्णता के दावे को अस्थिर कर देता है।[22]

इसके विपरीत, निर्मल वर्मा परम्परा के आध्यात्मिक केंद्र को जिस गहराई से महत्त्व देते हैं, वह कभी–कभी इस 'अधूरी–होती पहचान' वाले तत्त्व को लगभग दबा सा देती है। वर्मा की दृष्टि में परम्परा एक ऐसा सांस्कृतिक स्रोत है जो मनुष्य को अन्ततः एक प्रकार की आध्यात्मिक संपूर्णता प्रदान करता है, भाभा के लिए यही एकीकरण का दावा एक समस्या है, क्योंकि यह पहचान की हाइब्रिडटी, बहुस्वर, और विवादग्रस्त प्रकृति का अतिक्रमण कर लेती है। भाभा के लिए उपनिवेशित सदैव अपूर्ण, गतिशील और स्थानांतरित स्थिति में रहता है, जबकि वर्मा के लिए परम्परा एक ऐसी संरचना है जहाँ व्यक्ति अपनी खोई हुई आंतरिक एकता पुनः प्राप्त कर सकता है।

अतः संवाद का तनाव यहीं उत्पन्न होता है, भाभा पहचान को अनिर्णीत, बहुरूपी और निरंतर बनने की प्रक्रिया के रूप में देखते हैं, जबकि वर्मा परम्परा में ऐसी अर्थवाही गहराई देखते हैं जो व्यक्ति को अन्ततः स्थिर, संपूर्ण और एकीकृत कर देती है। इस प्रकार, वर्मा की परंपरा–चेतना की आध्यात्मिक एकात्मता भाभा के हाइब्रिड, अंतर–सांस्कृतिक और निरंतर रूपांतरित होते बीच के स्थान की राजनीति से एक आलोचनात्मक संवाद में प्रवेश करती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


स्पिवाक (1988) की चिंता तो और भी तीखी है : वह पूछती हैं कि क्या उपनिवेशित स्त्री, दलित या हाशिये पर रखा गया व्यक्ति स्वयं बोल सकता है?[23] यद्यपि वर्मा परम्परा को संवेदना, स्मृति, और करुणा आदि के शिल्प से पुनर्गठित करते हैं, पर उनकी परियोजना में सत्ता–संबंधों की यह जटिलता, विशेषतः जाति और लिंग, कभी–कभी पृष्ठभूमि में पीछे चली जाती है।

इस प्रकार वर्मा का परम्परा बोध निश्चित ही मानवीय अनुभव को गहराई देती है, पर प्रतिनिधित्व (रिप्रेजेंटेशन) के प्रश्न को पर्याप्त रूप से नहीं खोलता। फिर भी, यहाँ एक संवाद की भूमि शेष रह जाती है। आधुनिकता की आलोचना में वर्मा बुद्धिवाद, इतिहासवाद और भौतिकतावाद पर अपने प्रश्नों के साथ सईद की पश्चिमी ज्ञान–व्यवस्था की आलोचना, भाभा की प्रगति–कथा की विघटनशीलता और स्पिवाक की उपेक्षित स्वरों के प्रति संवेदनशीलता से कहीं न कहीं मेल खाते हैं। फर्क यह है कि जहाँ उत्तर–औपनिवेशिक सिद्धांत समाधान को सत्ता–संरचनाओं, प्रवचनों और भाषा की राजनीति में खोजता है, वहीं वर्मा सांस्कृतिक स्मृति, आध्यात्मिक संवेदना और परम्परा की आंतरिक गहराई में मुक्ति की संभावनाएँ तलाशते हैं।

इसी वैचारिक तनाव से निर्मल वर्मा की शक्ति और सीमा दोनों ही उजागर होती है : वे आधुनिकता के अस्तित्वगत संकट को समझने का वैकल्पिक मार्ग प्रस्तुत करते हैं, पर सामाजिक विषमता, प्रतिनिधित्व की राजनीति और सत्ता– संबन्धों के बारीक विश्लेषण में उत्तर–औपनिवेशिक सिद्धांत जितना पैनापन नहीं दिखाते। यही वह बिंदु है जहाँ वर्मा और सईद–भाभा–स्पिवाक के बीच एक गहरा, आलोचनात्मक और रचनात्मक दार्शनिक संवाद प्रारम्भ होता है। सहमति के लिए नहीं, बल्कि भिन्न दृष्टियों के उत्पादक तनाव के रूप में।

उपरोक्त वैचारिक बहस में यहाँ फनोंन के चिंतन को भी लाना जरूरी प्रतीत होता है। निर्मल वर्मा का यह आग्रह कि भारतीय परम्परा आज भी 'जीवित निरंतरता' के रूप में उपलब्ध है, पर फनोंन (1959) के अनुसार उपनिवेशित समाज परम्परा को अक्षुण्ण विरासत के रूप में नहीं, बल्कि खंडित, विकृत और औपनिवेशिक पुनर्संरचना से गुजरे अवशेषों के रूप में प्राप्त करता है। 'परंपराओं को ऐसा दिखाया जाता है मानो वे रुकावट हों; बेकार का बोझ – जिसे छोड़ देना चाहिए, ताकि हम उपनिवेशी ढाँचा अपना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



लें'। उपनिवेशवाद, फनोंन (1952) बतातें हैं – 'केवल सांस्कृतिक अवरोध नहीं है; वह परम्परा की सामाजिक–आर्थिक जड़ों को नष्ट कर इसे अपने मूल जीवन–संदर्भों से काट देता है।'[24] परिणामस्वरूप परम्परा नई पीढ़ियों के सामने एक फोकलोरिक, संग्रहालयीन रूप में उपस्थित होती है, न कि एक जीवित दैनंदिन संवेदना के रूप में। वर्मा अपने चिंतन में बार–बार कहतें हैं– परंपरा जीवंत होती है और कभी भी आर्काइव या संग्रहालीय नहीं होती है। यद्यपि वे परम्परा और स्मृति को इतिहास की समकक्ष शक्ति मानकर पुनर्जीवित करने का लगातार प्रयास करते हैं, लेकिन फनोंन के अनुसार यह प्रवृत्ति अक्सर उपनिवेशित व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक प्रतिरक्षा–तंत्र का रूप ले लेती है। फनोंन (1952) दिखाते हैं कि 'अपमानित और विस्थापित आत्मा एक काल्पनिक, सुव्यवस्थित अतीत का निर्माण करती है, जो सांत्वना तो देता है पर संरचनात्मक वास्तविकताओं, दमन, असमानता, सत्ता और जाति, लिंग, वर्ग इत्यादि के अंतर्विरोध का सामना करने से बचाता है'[25]। वर्मा की परम्परा–चेतना, जिसमें आध्यात्मिक संपूर्णता, नैतिक भीतरीपन और अस्तित्वगत एकत्व को केंद्रीय स्थान दिया गया है, लेकिन फनोंन के फ्रेमवर्क से देखें तो यह एक रोमानी 'लौटाव' का पुनरावर्तन ही है। असल में, फनोंन (1952 : 6–27) यहाँ उस मनोवैज्ञानिक प्रवृति पर जोर देते हैं जिसमें 'उपनिवेशित व्यक्ति अपनी वास्तविक सामाजिक और राजनैतिक स्थितियों के सामने खड़े होने से कतराता है और एक मिस्टिकल अतीत की ओर लौटने लग जाता है।' लेकिन ऐसा लगता है जैसे निर्मल वर्मा बार–बार अतीत की स्मृतियों की ओर लौटने पर भी, कोई मिस्ट्री (रहस्य) नहीं क्रिएट करते, बल्कि वर्तमान की पीड़ा, अलगाव के साथ ही व्यक्ति के अंतरतम में अनुभव से प्राप्त तमाम स्मृतियों की संवेदनों को उकेरते रहते हैं जिसमें रूमानियत के साथ एक छटपटाहट भी होती है। फिर भी दोनों के बीच इस गहरी असहमति के पीछे एक दार्शनिक संयोग–बिंदु को देखा जा सकता है। दोनों ही यह स्वीकारते हैं कि आधुनिक उपनिवेशित मनुष्य अपने मूल अनुभव–संसार से विच्छिन्न हो चुका है । फनोंन, इस विच्छेदन को औपनिवेशिक हिंसा और नस्ली अमानवीकरण के परिणाम के रूप में देखते हैं, जबकि वर्मा इसे आधुनिक जीवन–व्यवस्था द्वारा संवेदन, स्मृति और सांस्कृतिक आत्म बोध पर पड़े आघात के रूप में पहचानते हैं। फनोंन राजनीतिक संघर्ष द्वारा 'नए मनुष्य' की रचना की बात करते हैं और कहतें हैं :

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


विउपनिवेशवाद (डिकोलोनाइजेशन) एक नए मनुष्य का सृजन करती है, किंतु यह सृजन किसी अलौकिक चमत्कार या आध्यात्मिक हस्तक्षेप का परिणाम नहीं माना जा सकता। यह नया मनुष्य वास्तव में उन उत्पीड़ित समुदायों के ठोस, ऐतिहासिक और असाधारण राजनीतिक प्रयासों की निर्णायक उपलब्धि है । ऐसे प्रयास जिनके माध्यम से वे स्वयं को हर संभव साधन द्वारा दमन से मुक्त करने के संघर्ष में प्रविष्ट होते हैं।[26] (फनोंन, 1969 : 36)

निर्मल वर्मा आंतरिक सांस्कृतिक–आध्यात्मिक संवेदना की पुनः प्राप्ति परंपरा बोध के आधार पर करना चाहते हैं, मेरी दृष्टि में उनकी यह भिन्नता एक संभावित दार्शनिक पूरकता का भी संकेत देती है। फनोंन बाहरी संरचना को रूपांतरित करना आवश्यक मानते हैं। इस वैचारिक तनाव के बीच यह कहा जा सकता है कि पहचान को स्थिर सार नहीं, बल्कि संघर्ष, स्मृति और अनुभव से निर्मित गतिशील प्रक्रिया मानने का दृष्टिकोण दोनों के विचारों में एक साझा भूमि तैयार करता है। इसी भूमि पर वर्मा का सांस्कृतिक परम्परा बोध और फनोंन का उत्तर–औपनिवेशिक प्रतिवाद एक गहरे, आलोचनात्मक और दार्शनिक संवाद में प्रवेश करता है। दोनों ही पश्चिमी आधुनिकता के सार्वभौमिक दावों पर गहरा संशय प्रकट करते हैं और इस बात पर सहमत होते दिखाई देते हैं कि आधुनिकता मनुष्य को न तो राजनीतिक रूप से मुक्त करती है और न ही, अस्तित्वगत रूप से संपूर्णता देती है। यद्यपि फनोंन मुक्ति को संघर्ष, विघटन और 'नए मनुष्य' की रचना के माध्यम से सम्भव बताते हैं और निर्मल वर्मा उसे सांस्कृतिक–आध्यात्मिक संवेदना तथा भीतरी चेतना की पुनर्प्राप्ति में खोजते हैं। मेरी दृष्टि में यह भिन्नता निश्चित ही मनुष्य–स्वातंत्र्य के दो अनिवार्य आयामों का संकेत है–एक बाहरी सत्ता–संरचना को बदलना चाहती है, दूसरी आंतरिक संवेदना को। इसके अतिरिक्त, दोनों पहचान को किसी स्थिर मूलतत्त्व के रूप में नहीं, बल्कि संवेदनात्मक अनुभव, संघर्ष और स्मृति के माध्यम से निर्मित होने वाली द्वंद्वात्मक गतिशील प्रक्रिया के रूप में समझते हैं। इसी साझा दृष्टि में वह दार्शनिक भूमि तैयार होती है, जहाँ वर्मा की सांस्कृतिक आलोचना और फनोंन की राजनीतिक उत्तर–औपनिवेशिक आलोचना एक गहरे रचनात्मक संवाद में प्रवेश कर सकती हैं। मेरा अभिप्राय है कि मनुष्य की चेतना के आंतरिक और वाह्य आयामों को अलग–अलग

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



नहीं देखा जाना चाहिए, बल्कि एक दूसरे को वर्तमान में, यथार्थ की भूमि पर रखकर सृजन करने वाले कारकों के रूप में देखा जाना चाहिए। इस प्रक्रिया में 'स्व' और 'अन्य' के बीच एक द्वंद्वात्मक रिश्ता सृजनशील होकर संवाद कायम कर, मानवीय और नैतिक चेतना का निर्माण कर सकता है।

## उपसंहार

यह अध्यन निर्मल वर्मा के परम्परा बोध, स्मृतियों, उनकी मनोदशाओं और द्वंद की अनुभूतियों और तत्वमीमांसीय मान्यताओं का दार्शनिक विश्लेषण करता हुआ इसके बरक्स उत्तर औपनिवेशिक चिंतकों को संदर्भित कर एक वैचारिक तनाव को उजागर करता है। परिणामतः यह समझ बनती है कि वर्मा का आत्मिक आदर्शवाद, उन्हें गहरी आध्यात्मिक समझ तो देता है, मगर यही आदर्शवाद जब जमीन पर सामाजिक–राजनीतिक हकीकत से टकराता है, तो उसकी पकड़ कुछ ढीली पड़ जाती है। बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में उभर रहे अस्तित्वगत प्रश्न जैसे पीड़ा, अकेलापन, टूटन, बहिष्कार और आधुनिक मनुष्य की अंदरूनी रिक्तता वर्मा को लगातार परेशान करते हैं, और इन्हीं प्रश्नों से टकराव के क्षणों में वे बौद्धदर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद (डिपेंडेंट अरिजिनेशन) की ओर बढ़ते हैं, जहाँ 'स्व' और 'अन्य' के बीच एक परस्पर सम्बन्ध स्थापित होता है। यहीं पर वर्मा के परम्परा बोध की शक्ति और सीमा एक साथ उजागर होती है।

निर्मल वर्मा के यहाँ परम्परा की शक्ति यह है कि वह आत्म–चेतना को किसी ठंडी, अमूर्त तर्कशीलता से नहीं, बल्कि नैतिकता, स्मृति और मानवीय संवेदना से जोड़ती है। यह 'आधुनिकता की वस्तुकरण' करने वाली सोच के खिलाफ एक जरूरी हस्तक्षेप है। लेकिन यहीं पर उसकी सीमा भी सामने आती है। यह चेतना अक्सर जाति, वर्ग, लैंगिक–भेद, सत्ता और समकालीन जीवन की वास्तविक चोटों से सीधे टकराने से बचती नजर आती है। नतीजा यह होता है कि परम्परा कई बार प्रतिरोध की जगह राज्य–सत्ता और प्रभुत्वशाली वर्गों के हाथों 'अन्य' को दबाने का औजार बन जाती है। जिसकी आलोचना उत्तर–औपनिवेशिक विचारक करते हैं।

फिर उनके सांस्कृतिक विमर्श में एक बुनियादी अंतर्विरोध बना रहता है। निर्मल वर्मा पश्चिम और पूर्व के बीच सीधा–सादा विभाजन कर देते हैं–पश्चिम में यहूदी–ईसाई परम्पराओं की कड़ी आलोचना करते हुए उसके दमनकारी पक्ष, वर्चस्वकारी आयाम और शोषणकारी संरचनाओं पर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


अपनी लेखनी अविराम चला देते हैं। लेकिन भारतीय संस्कृति और परम्परा के सिर्फ सकारात्मक और समन्वयकारी पक्ष को आध्यात्मिकता के आधार पर बड़े मार्मिक और मनो–भावन तरीकों से प्रस्तुत करते हैं। वे भारतीय संस्कृति और परम्परा के भीतर मौजूद हिंसा, बहिष्कार और वर्चस्वकारी आयाम और दमनकारी पक्षों पर चुप रह जाते हैं।

इस अध्यन का मुख्य यह है कि क्या प्रश्न परम्परा स्वयं सत्ता–संरचनाओं, ऐतिहासिक वर्चस्व और सामाजिक विषमताओं से मुक्त होती है या फिर, इन प्रक्रियाओं में प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से भाग लेती है। इस हेतु यह अध्यन वर्मा और प्रमुख उत्तर–औपनिवेशिक चिंतकों दोनों को आमने–सामने रखकर वैचारिक तनाव पैदा कर दार्शनिक विश्लेषण करते हुए दर्शाता है कि वर्मा के लिए भारतीय परम्परा, पाश्चात्य आधुनिकता की उस निर्मम तर्कशीलता के विरुद्ध खड़ी होती है, जो मनुष्य को स्मृति, संवेदना और नैतिक उत्तरदायित्व से काट देती है। उनके चिंतन में परम्परा कोई जड़ अतीत नहीं, बल्कि एक जीवित सांस्कृतिक चेतना है, जो व्यक्ति को अर्थ, आत्म–संतुलन और मानवीय गरिमा प्रदान करती है। इसके विपरीत, उत्तर–औपनिवेशिक चिंतक सावधान करते हैं कि परम्परा कभी भी सत्ता से निष्पाप नहीं रही, वह चाहें पश्चिम में यूरोप हो या पूर्व में भारत। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि परम्परा के भीतर जाति–व्यवस्था, लैंगिक अनुशासन और राष्ट्रवादी वर्चस्व ने वैधता पाई है। यहीं पर दोनों के बीच एक गहरा वैचारिक तनाव उभरता है। किंतु यह तनाव टकराव मात्र नहीं, संवाद का अवसर भी है।

यह अध्ययन इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि परम्परा को ना तो महिमा–मंडित कर सकते हैं ना ही मात्र दमनकारी ढाँचा मानकर खारिज कर सकतें हैं। इसलिए परंपरा को द्वंद्वात्मक और पुर्नव्याख्यात्मक बहुस्तरीय प्रक्रिया के रूप में देखने पर जोर देना ही उचित है। ऐसी प्रक्रिया, जिसमें मानवीय संवेदना और आलोचनात्मक विवेक साथ–साथ सक्रिय रह सकते हैं।

इस अध्ययन के माध्यम से हमारा प्रयास निर्मल वर्मा और उत्तर–औपनिवेशिक विचारकों के बीच वैचारिक संवाद की एक दार्शनिक भूमि तलाशते हुए एक समझ बनाना है ताकि 'स्व' और 'अन्य' की दार्शनिक गुत्थी को समझने के लिए मानवीय चेतना के बाह्य और आंतरिक आयामों के द्वंद्व

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



को रेखांकित किया जा सके। इसी द्वंद्व से मनुष्य में सृजनशीलता का अविर्भाव होता है और वह उपभोग की वस्तु (अन्य) ना रहकर स्वयं कर्ता बन सकता है। मनुष्य को उपभोग की वस्तु में तब्लील कर देना ही अन्यीकरण है। वर्तमान के इस पूंजीवादी दौर में, जब सभी कुछ श्रम, संस्कृति, प्रकृति से लेकर राजनीति, सामाजिक सम्बन्ध और शिक्षा आदि का वस्तुकरण हो गया है तो जरूरत लगातार चेतना के दोनों आयामों (वाह्य और आंतरिक) के बीच संवाद स्थापित करने की है ना कि एकांगी होने की। आज भारत की अस्मिता के निर्माण के लिए आवश्यक है कि वह अपनी विस्मृत सृजनशीलता को पहचाने और कर्ता बने ना की दूसरे देशों के लिए अन्य (बाजार या मंडी)।

अंततः यह अध्ययन इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि निर्मल वर्मा स्वयं अपने चिंतन और साहित्यिक निबन्धों में इन चुनौतियों और कसमाकश से लगातार जूझते रहे। यूरोप में रहते हुए वे भारत की स्मृति से मुक्त नहीं हो पाए, और भारत लौटने के बाद यूरोपीय कटु अनुभवों की स्मृतियों से पीछा नहीं छुड़ा सके। दोनों संसार उनकी चेतना में अनवरत सक्रिय रहे– कई बार उन्हें विचलित करते हुए और कई बार दृष्टि को पैना बनाते हुए। इसी द्वंद्व में अतीतोन्मुख, नॉस्टैल्जिक और स्मृति केन्द्रित प्रतीत अवश्य होतें हैं, परंतु यह भी उतना ही सत्य है कि यही दूरी ने उन्हें लौटकर देखने की दार्शनिक जिज्ञासा और आलोचनात्मक मेधा प्रदान की।

इस अर्थ में वर्मा का प्रोजेक्ट अधूरा नहीं, बल्कि प्रक्रिया धर्मी है। वह ऐसी सतत खोज है जो परम्परा की नैतिक चेतना को सक्रिय करते हुए, आधुनिक मनुष्य की ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों और राजनीतिक यथार्थ से संवाद करने की ओर बढ़ सकती है। यही निमल वर्मा की चुनौती रही है, और आज भी उनकी समकालीनता इसी में निहित है।

*दर्शन शास्त्र विभाग*
*पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़-160014*

**पाद टिप्पणी–**

1. अन्यीकरण वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से सत्ता अपने से भिन्न व्यक्तियों या समुदायों को कमतर, हीन या आवाज–विहीन के रूप में परिभाषित करती है। भारतीय उत्तर–औपनिवेशिक चिंतकों के अनुसार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


यह प्रक्रिया औपनिवेशिक शासन की समाप्ति के बाद भी नए रूपों में जारी रहती है। पार्थ चटर्जी बताते हैं कि राष्ट्रवादी विमर्श अक्सर उपनिवेशी तर्क को दोहराता है, जहाँ "आंतरिक सांस्कृतिक क्षेत्र" और "बाह्य भौतिक क्षेत्र" का भेद नए प्रकार के बहिष्कार पैदा करता है। आशीष नंदी के अनुसार औपनिवेशिक आधुनिकता शासक की दृष्टि को हमारे भीतर आत्मसात करा देती है, जिससे सांस्कृतिक भिन्नता मनोवैज्ञानिक हीनता में बदल जाती है। गोपाल गुरु इस विमर्श को जाति से जोड़ते हुए दिखाते हैं कि ज्ञान और अभिव्यक्ति का अधिकार स्वयं अन्यीकरण का माध्यम बन जाता है, जहाँ हाशिए के समुदायों की आवाज को व्यवस्थित रूप से अवैध ठहरा दिया जाता है। देखें : चटर्जी, पार्थ. (1993) नंदी, आशीष. (1983) गुरु, गोपाल. (2009).

2. आत्मावाद भारत में केवल आदिवासी विश्वास नहीं है, बल्कि वैदिक, लोक और जनजातीय परम्पराओं में गहराई से मौजूद जीवन–दृष्टि है। नदियों (गंगा, नर्मदा), पर्वतों (हिमालय), वृक्षों (पीपल, बरगद) और पशुओं को चेतन और पूज्य मानना इसी आत्मावादी सोच का उदाहरण है। यहाँ मनुष्य और प्रकृति के बीच कठोर भेद नहीं किया जाता, बल्कि दोनों को एक ही नैतिक और आध्यात्मिक संसार का हिस्सा माना जाता है (टायलर,1871; एलियादे, 1957)।
3. टोटेमवाद भारत की अनेक आदिवासी परम्पराओं–जैसे गोंड, संथाल, मुंडा और भील समाज–में सामाजिक संगठन का मूल आधार रहा है। किसी पशु, वृक्ष या प्राकृतिक तत्व को वंश–चिह्न मानकर उससे सामाजिक पहचान, विवाह–निषेध और आचार–संहिता तय की जाती है। दुर्खीम के अनुसार टोटेम वास्तव में समाज का ही प्रतीक होता है, और भारतीय जनजातीय जीवन में यह सामूहिक एकता और नैतिक अनुशासन को बनाए रखता है (दुर्खीम, 1912य एल्विन 1964)।
4. मातृदेवी–पूजा भारतीय धार्मिक चेतना में सृजन, उर्वरता और शक्ति के पवित्रीकरण का रूप है। सिन्धु सभ्यता की मातृदेवी प्रतिमाओं से लेकर शाक्त परम्परा की दुर्गा, काली, अन्नपूर्णा और ग्रामदेवियों तक, देवी को जीवनदायिनी और संहारक दोनों शक्तियों के समन्वय के रूप में देखा गया है। यह परम्परा प्रकृति, स्त्रीत्व और जीवन–चक्र के गहरे जुड़ाव को व्यक्त करती है (एलियादे, 1957)।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



5. पूर्वज–पूजाभारत में पितृ–पूजा और श्राद्ध परम्परा के रूप में सामाजिक–धार्मिक जीवन का अभिन्न हिस्सा है। पूर्वजों को केवल अतीत की स्मृति नहीं, बल्कि वर्तमान जीवन के नैतिक मार्गदर्शक के रूप में माना जाता है। यह परम्परा वंश, स्मृति और सामाजिक उत्तरदायित्व के बीच सेतु का काम करती है और पीढ़ियों की निरंतरता को अर्थ देती है (मालिनोव्स्की, 1948)।
6. प्लेटो मनुष्य को बुद्धि (नाउस/लोगोस) से संपन्न बताते हैं और इसी को उसकी विशिष्टता व श्रेष्ठता का आधार मानते हैं।(स्व–अनुवादित) देखे–प्लेटो, टीमायस, अंग्रेजी अनुवाद : डोनाल्डजे. जाइल (हैकट पब्लिशिंग, 2000), (69ब–70इ = पृ. 54–57).
7. अरस्तू लिखते हैं कि मनुष्य "प्रकृति से राजनीतिक और वाणीध्बुद्धि युक्त प्राणी है," जो अन्य जीवों से श्रेष्ठ है क्योंकि वह न्याय और नैतिकता का चिंतन कर सकता है। (स्व–अनुवादित) देखें – ऐरिस्टॉटल (1981), पॉलिटिक्स अनुवाद टी ए सिंक्लेर, पेंग्विनकलस्सिक बुक I पृ.59–60.
8. पदानुक्रम (हैरार्की) वह संरचना है जिसमें समाज, संस्कृति और सत्ता के संबंध ऊँच–नीच के क्रम में व्यवस्थित होते हैं। ग्रीकदर्शन में, विशेषतः प्लेटो और अरस्तू के यहाँ, तर्क (लोगोस), प्रकृति और उद्देश्य के आधार पर पदानुक्रम को 'स्वाभाविक' माना गया, जिससे सामाजिक और राजनीतिक असमानताओं को वैधता मिली। धार्मिक परंपराओं ने इसे ईश्वरीय विधान के रूप में और मजबूत किया। समकालीन आलोचनात्मक चिंतन इस स्वाभाविकता को चुनौती देता है और पदानुक्रम को ऐतिहासिक सत्ता– संरचना के रूप में देखता है। मार्क्सवादी, स्त्रीवादी, उत्तर–औपनिवेशिक और पारिस्थितिक विमर्श दिखाते हैं कि पदानुक्रम वर्ग, जाति, लिंग और प्रकृति के स्तर पर असमानता और वर्चस्व को बनाए रखता है। इसलिए पदानुक्रम आज एक प्रश्नांकित और आलोचनात्मक अवधारणा है।
9. देखें – द होलीबाइबिल (2011), जेनेसिस, न्यूइंटरनेशनल वर्जन जेनेसिस 1:28.
10. देखें ईश्वरकृष्ण. (2003). सांख्यकारिका (वाचस्पति मिश्र कृत तत्त्वकौमुदी सहित). वाराणसीरू चौखम्बा संस्कृत संस्थान, कारिका 17–27य पृ. 45–52।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


11. लार्सन स्पष्ट करते हैं कि सांख्य में मुक्ति का आधार ही यह है किपुरुष स्वयं को प्रकृति से "अलग और उच्चतर" के रूप में पहचाने।यही पहचान सांख्य की ontological hierarchy को रेखांकित करती है। राधाकृष्णन बताते हैं कि सांख्य में चेतना को मूल्यात्मक और सत्तात्मक रूप से प्रकृति से उच्च माना गया है, जिससे द्वैत केवल भेद नहीं, बल्कि पदानुक्रम रचता है। राधाकृष्णन, सर्वपल्ली. (1951). इंडियन फिलॉसफी, खंड–1. लंदन : जॉर्ज ऐलन ऐंड अनविन, (पृ. 271–276).
12. बौद्ध दर्शन का प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धांत यह प्रतिपादित करता है कि संसार की कोई भी वस्तु, अनुभव या सत्ता स्वतंत्र, स्थायी या आत्मसत्ता से युक्त नहीं है। प्रत्येक वस्तु और अवस्था कारण–परिस्थितियों के पारस्परिक संबंध से उत्पन्न होती है। बुद्ध का सूत्रात्मक कथन है। "इमस्मिं सति इदं होति, इमस्स उप्पादा इदं उप्पज्जतिय इमस्मिं असति इदं न होति, इमस्स निरोधा इदं निरुज्जति।"– "यह होने पर वह होता है; इसके उत्पन्न होने से वह उत्पन्न होता है। यह न होने पर वह नहीं होता; इसके निरोध से वह निरुद्ध हो जाता है।" संयुक्त निकाय, निदान संयुक्त (II-1–2) देखें बुद्ध. (2005). संयुक्त निकाय (निदान संयुक्त). अनुवाद : भिक्षु बोधि. बॉस्टन : विजडम पब्लिकेशंस, पृ. 533–536।
13. श्री निवास भारतीय ग्राम–समाज को स्थानीय स्तर पर संगठित, अपेक्षाकृत आत्म निर्भर, और धर्म–कर्मकांड के माध्यम से संचालित सामाजिक इकाई के रूप में परिभाषित करतें है। (स्व–अनुवादित) अंग्रेजी में देखें श्रीनिवास, (1962 : पृ. 32–38).
14. आंबेडकर (1936) जाति को "क्लोज्ड को–ऑपरेशन" के रूप में परिभाषित करते हुए इसे सामाजिक सहयोग की नहीं, बल्कि सामाजिक गतिशीलता के व्यवस्थित निषेध की संरचना मानते हैं (पृ. 52–58, 63–66)। उनके अनुसार जाति जन्म के आधार पर पेशा, सामाजिक प्रतिष्ठा और मानवीय सम्बन्धों को स्थिर कर देती है, जिससे व्यक्ति के लिए सामाजिक उन्नयन और आत्म–विकास की संभावनाएँ संरचनात्मक रूप से अवरुद्ध हो जाती हैं। इस संदर्भ में निर्मल वर्मा की परम्परा–कल्पना, जो परम्परा को सांस्कृतिक स्मृति और आध्यात्मिक निरंतरता के रूप में देखती है, आंबेडकर के विश्लेषण से एक आलोचनात्मक चुनौती प्राप्त करती है। आंबेडकर का तर्क यह प्रश्न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



उठाता है कि क्या परम्परा स्वयं सत्ता, बहिष्करण और असमानता की इन जड़ संरचनाओं से मुक्त हो सकती है, या वह प्रत्यक्ष– अप्रत्यक्ष रूप से उनके संरक्षण में सहभागी बन जाती है। देखें : आंबेडकर, भीमराव रामजी. (1936). जाति का विनाश. (हिंदी संस्करण पृ. 52–58, 63–66).

15. देखें मार्क्सवादी चिंतन शब्द कोश संपादक टॉम बौटोमोर, लॉरेंस हैरिसवी। जीकिरणनराल्फमिलीबैण्ड (2025 : 866) (अनुवादक) कमलनयन चौबे सेतु प्रकाशन नोएडा उत्तरप्रदेश।

16. यह बातचीत निर्मल वर्मा से अशोक वाजपेयी, मदन सोनी, उदयन वाजपेयी के बीच की है जिसमें, मदन सोनी प्रश्न करते है कि आपके अपने बचपन के वातावरण का जिसमें आपके परिवार का, आपके समाज का वातावरण शामिल है ऐसी कौन से स्मृतियाँ है जिससे आपकी धर्मिक दीक्षाओं कासम्बंध है? (वाजपेयी : 2017 : पृ. 25)

17. हेराक्लाइटस (लगभग 540–480 ईसा–पूर्व) को पूर्व–सुकराती यूनानी दर्शन के महत्वपूर्ण चिंतकों में माना जाता है। उनके अनुसार यथार्थ कोई स्थिर सत्ता नहीं है, बल्कि वह लगातार बदलने और 'बनते रहने' की प्रक्रिया में है। हेराक्लाइटस यह मानते हैं कि संसार में होने वाला परिवर्तन अराजक नहीं होता, बल्कि उसे लोगोस नामक एक आंतरिक तर्क नियंत्रित करता है, जो विरोधों के तनाव के माध्यम से एक गहरी एकता संभव करता है (कान, 1979)। उनके यहाँ संघर्ष और द्वंद्व को नकारात्मक नहीं, बल्कि यथार्थ की गतिशीलता का मूल स्रोत माना गया है। आधुनिक विद्वानों के अनुसार, हेराक्लाइटस मिथकीय सोच से हटकर तर्कसंगत दार्शनिक चिंतन की ओर संक्रमण का एक निर्णायक चरण प्रस्तुत करते हैं (किर्क, रेवन एवं स्कोफील्ड, 1983)।

18. बौद्धदर्शन में पंचस्कंध का मतलब है कि इंसान का जो 'मैं' है, वह कोई स्थायी आत्मा नहीं, बल्कि पाँच हिस्सों से मिलकर बना हुआ एक चलता–फिरता अनुभव है। रूप यानी शरीर, वेदना यानी सुख–दुःख की अनुभूति, संज्ञा या नीची जों को पहचानना, संस्कार यानी मन की आदतें, इच्छाएँ और कर्म की प्रवृत्तियाँ, और विज्ञान यानी पल–पल बदलती चेतना। बुद्ध कहते हैं कि ये सब लगातार बदलते रहते हैं, इसलिए इनमें से किसी को भी स्थायी "आत्मा" नहीं कहा जा सकता। यही समझ तृष्णा को ढीला करती है और दुःख से मुक्ति, यानी निर्वाण का रास्ता खोलती

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


है। देखें – संयुक्त निकाय तृतीय (खंधसंयुक्त), भिक्खुबोधि (अनुवादक), द कनेक्टेड डिस्कोर्सेज ऑफ द बुद्ध, विजडम पब्लिकेशन्स, 2000 पृ. 900–903.

19. ऋग्वैदिक चिंतन में ऋत ब्रह्मांडीय तथा नैतिक व्यवस्था का मूल सिद्धांत है, जो प्रकृति, देवताओं और मनुष्य–तीनों को अनुशासित करता है। यह केवल प्राकृतिक नियम नहीं, बल्कि सत्य और कर्म से जुड़ा नैतिक अनुशासन है। "ऋतं च सत्यंचाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत" अर्थात् वरुण को ऋत का संरक्षक माना गया है। उपनिषदों में यह अवधारणा विकसित होकर धर्म और अंततः ब्रह्म–बोध में रूपांतरित हो जाती है। तैत्तिरीय उपनिषद् में ऋत को सत्य और ब्रह्म से जोड़ते हुए नैतिक आत्म–अनुशासन का आधार माना गया है। इस प्रकार ऋत वैदिक चिंतन में 'स्व और जगत के बीच नैतिक सेतु का कार्य करता है' । देखें : तैत्तिरीय उपनिषद्. (2008). उपनिषद् संग्रह (शंकराचार्य भाष्य सहित). वाराणसी : चौखंबा प्रकाशन। (देखें : प्रथमोऽनुवाकः, पृ. 249–250) (ऋग्वेद 1.25.1, पृ. 92–93) तथा सृष्टि–क्रम को ऋत से उद्भूत बताया गया है (ऋग्वेद 10.190.1,1248)। देखें : ऋग्वेद. (2009). ऋग्वेद संहिता (सायणभाष्य सहित). वाराणसी : चौखंबा संस्कृत संस्थान। (मण्डल 1, सूक्त 25, पृ. 92–93; मण्डल 10, सूक्त 190, पृ 1248)

20. "The intervention of the Third Space of enunciation, which makes the structure of meaning and reference an ambivalent process, destroys this mirror of representation in which cultural knowledge is customarily revealed as an integrated, open, expanding code." देखे : (भाभा, 2004 : 36–39)

21. देखें – भाभा, होमीके. (2004 : पृ.36–39).

22. देखें– (रदरफोर्ड, 1990) आइडेंटिटी : कम्युनिटी, कल्चर, डिफरेंस. के अंतर्गत चौप्टर–'थर्ड स्पेस' : होमी भाभा के साथ जोनाथन. साक्षात्कार।

23. देखें – स्पिवाक, जी. सी. (1988). कैन द सबऑल्टर्न स्पीक? सी. नेल्सन एवं एल. ग्रॉसबर्ग (संपा.), मार्क्सिज्म एंड द इंटरप्रिटेशन ऑफ कल्चर (पृ. 271–313). यूनिवर्सिटी ऑफ इलिनॉय प्रेस।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



24. अंग्रेजी अनुवाद में देखें – "The colonial regime uproots the native from his land, his history, his language, and finally from himself." (फैनन,1961 : पृ. 40–60)
25. In Black Skin, White Masks, Fanon shows that the humiliated and alienated colonial subject often turns toward an idealised or mythical past and a compensatory cultural memory, which provide temporary psychic relief while simultaneously evading a direct engagement with the concrete structures of domination—namely power, inequality, race, class, and gender. देखे : (फैनन 1952 : 148–152).
26. अंग्रेजी अनुवाद में देखें –"Decolonization creates a new man. But such a creation cannot be attributed to the supernatural; the 'thing' is born of the very real and extraordinary effort of the people who have been oppressed to liberate themselves by every means." – (फैनन, 1961 : 36).

**सन्दर्भ**

*अग्रवाल, पुरुषोत्तम. (2022). संस्कृति, वर्चस्व और प्रतिरोध. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।*

*अपूर्वानंद. (2008). साहित्य का एकांत. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन।*

*एलयादे, मिर्चिया. (1957). द सेक्रेड ऐंड द प्रोफेन : द नेचर ऑफ रिलिजन. न्यूयॉर्क : हार्कर्ट, ब्रेस ऐंड वर्ल्ड।*

*अरस्तु. (1981). पॉलिटिक्स (टी. ए. सिंक्लेर, अनु.). नई दिल्ली : पेंग्विन क्लासिक्स।*

*अरस्तू. (1984). पॉलिटिक्स (सी. लॉर्ड, अनुवाद). यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।*

*आंबेडकर, भीमराव रामजी. (1936). जाति का विनाश. (हिंदी संस्करण). नई दिल्ली : सम्यक प्रकाशन*

*ईश्वरकृष्ण. (2003). सांख्यकारिका (वाचस्पति मिश्र कृत तत्त्वकौमुदी सहित). वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत संस्थान, कारिका*

*बर्कर्ट, वाल्टर. (1985). ग्रीक रिलिजन. कैम्ब्रिज, एमए : हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।*

*कान, सी. एच. (1979). द आर्ट ऐंड थॉट ऑफ हेराक्लाइटस. कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


किर्क, जी. एस., रेवन, जे. ई., एवं स्कोफील्ड, एम. (1983). द प्रीसोक्रेटिक फिलॉसफर्स : ए क्रिटिकल हिस्ट्री विद ए सिलेक्शन ऑफ टेक्स्ट्स (द्वितीय संस्करण). कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

फूको, मिशेल. (1978). द हिस्ट्री ऑफ सेक्सुएलिटी, खंड 1.पैंथियन बुक्स

फूको, मिशेल. (1977). डिसिप्लिन ऐंड पनिश : द बर्थ ऑफ द प्रिजन (अनु. ऐलन शेरिडन). न्यूयॉर्क : पैंथियन बुक्स।

फुले, ज्योतिराव. (1873). गुलामगिरी. पुणे : महाराष्ट्र राज्य साहित्य और संस्कृति मंडल (आधुनिक संस्करण).

मालिनोव्स्की, ब्रॉनिस्लाव. (1948). मैजिक, साइंस ऐंड रिलिजन. बोस्टन : बीकन प्रेस।

लिपनर, जूलियस. (2010). हिंदूज : देयर रिलिजस बिलीफ्स ऐंड प्रैक्टिसेज (द्वितीय संस्करण). लंदन : रूटलेज।

भाभा, होमीके. (2004). द लोकेशन ऑफ कल्चर. नई दिल्ली : रूपा पब्लिकेशन्स।

मार्क्स, कार्ल, एवं एंगेल्स, फरेडरिक. (1978). द कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो (अनुभाग 1). न्यूयॉकर्रु डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन।

नंदी, आशीष. (1983). द इन्टिमेट एनिमी : लॉस एंड रिकवरी ऑफ सेल्फ अंडर कोलोनियलिज़्म. दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

नंदकिशोर, आचार्य (संपा.). (2013–2018). लेखक की आस्था : निर्मल वर्मा के साहित्यिक निबंध. बीकानेर : वाग्देवी प्रकाशन।

आचार्य, नंद किशोर. (2021). सम्पूर्णता के बोध की स्मृति.कथादेश : साहित्य, संस्कृति और कला का समग्र मासिक, शंपा शाह (संपा.). नई दिल्ली।

निगम, आदित्य. (2023). आसमान और भी हैं : वैचारिक स्वराज के तकाजे. नोएडा : सेतु प्रकाशन।

दुर्खीम, एमिल. (1912).द एलिमेंटरी फॉर्म्स ऑफ रिलिजस लाइफ. लंदन : जॉर्ज ऐलन ऐंड अनविन।

डार्विन, चार्ल्स. (2009). ऑन द ओरिजिन ऑफ स्पीशीज (अध्याय 3). नई दिल्ली : पेंग्विन क्लासिक्स।

डोनाल्ड जे. जाइल (अनु.). (2000). प्लेटो : टीमायस (69ब–70इ; पृ. 54–57). इंडियानापोलिस : हैकट पब्लिशिंग।

थापर, रोमिला. (2002). अर्ली इंडिया : फ्रॉम द ओरिजिन्स टू ए.डी. 1300. नई दिल्ली : पेंग्विन बुक्स।

टायलर, ई. बी. (1871).प्रिमिटिव कल्चर. लंदन : जॉन मरे।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



टॉमबौटोमोर, लॉरेंसहैरिस, वी. जी. किरणन, एवं राल्फ मिलीबैण्ड (संपा.). (2025). मार्क्सवादी चिंतन शब्दकोश (क. न. चौबे, अनु.). नोएडा : सेतु प्रकाशन।

फैनन, फ्रांट्ज. (1952). ब्लैक स्किन, व्हाइट मास्क्स (चार्ल्स लैम मार्कम, अनु.). लंदन / न्यूयॉर्क : प्लूटो प्रेस / ग्रोव प्रेस।

फैनन, फ्रांट्ज. (1961). द रैच्ड ऑफ द अर्थ. न्यूयॉर्क : ग्रोव प्रेस।

शर्मा, रामशरण. (2003). प्राचीन भारत में सामाजिक संरचनाएँ. नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

रदरफोर्ड, जोनाथन (संपा.). (1990). आइडेंटिटी : कम्युनिटी, कल्चर, डिफरेंस. लंदन : लॉरेंस ऐंड विशार्ट।

लिपनर, जूलियस. (2010). हिंदूज : देयर रिलिजस बिलीफ्स ऐंड प्रैक्टिसेज. लंदन : रूटलेज।

वर्नां, जाँ–पियेर. (1983). मिथ ऐंड थॉट अमंग द ग्रीक्स. न्यूयॉर्क : जोन बुक्स।

वाजपेयी, अशोक. (2017). निर्मल वर्मा. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।

वर्मा, निर्मल. (2010). ढलान से उतरते हुए. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।

वर्मा, निर्मल. (2024 क).आदि, अन्त और आरम्भ. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।

वर्मा, निर्मल. (2024 ख).दूसरे शब्दों में. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।

वर्मा, निर्मल. (2024 ग).भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र. नईदिल्ली : राजकमल प्रकाशन।

वर्मा, निर्मल (2024 घ). शब्द और स्मृति. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन।

सईद, एडवर्ड. (1978). ओरिएंटलिज्म. न्यूयॉर्क : पैंथियन बुक्स।

सार्त्र, ज्याँ–पॉल. (2003). बीइंग ऐंड नथिंगनेस (भाग 3, अध्याय 1). लंदन : रूटलेज।

श्रीनिवास, एम. एन. (1962). कास्ट इन मॉडर्न इंडिया ऐंड अदर एसेज. बॉम्बे : एशिया पब्लिशिंग हाउस।

शर्मा, अंबिकादत्त. (2020). भारतीय मानस का वि–औपनिवेशीकरण. दिल्ली : सेतु प्रकाशन / रजा फाउंडेशन।

हेगेल, जी. डब्ल्यू. एफ. (1977). फेनोमेनोलॉजी ऑफ स्पिरिट. ऑक्सफोर्ड : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

हॉब्स, थॉमस. (1996). लेवियाथन (भाग1, अध्या 13). कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।

चटर्जी, पार्थ. (1993). द नेशन ऐंड इट्स फ्रैगमेंट्स : कोलोनियल ऐंड पोस्ट कोलोनियल हिस्ट्रीज. प्रिंसटन : प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 6–11।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


नंदी, आशीष. (1983). द इंटिमेटएनिमी : लॉस ऐंडरिकवरी ऑफ सेल्फ अंडर कोलोनियलिज्म. नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 1–15।

गुरु, गोपाल. (2009). ह्यूमिलिएशन : क्लेम्स ऐंड कॉन्टेक्स्ट्स. नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. 3–5।

रिक्योर, पॉल. (1984). टाइम एंड नरेटिव (वालूम 1). शिकागो : यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

# आचार्य प्रद्योत कुमार मुखोपाध्याय का विवेकानन्द-पाठ और भारतीयता की आत्मगवेषणा

राजन

भारतीय बौद्धिक परंपरा में स्वामी विवेकानन्द को प्रायः राष्ट्रवाद की प्रेरक आवाज के रूप में देखा जाता है। इस विषय पर पर्याप्त शोध–सामग्री उपलब्ध है, फिर भी यह लेख इस सामान्य धारणा पर पुनर्विचार करने का प्रयास करता है। इस समालोचनात्मक विश्लेषण के लिए हमने आचार्य प्रद्योत कुमार मुखोपाध्याय के दृष्टिकोण को आधार बनाया है। उनकी दृष्टि के अनुसार यह प्रश्न उठता है कि क्या विवेकानन्द का आध्यात्मिक संदेश वास्तव में भारतीय सभ्यता की गहन आत्मा को अभिव्यक्त करता है, या वह आधुनिक दर्शकों के लिए निर्मित एक सरल और प्रचारात्मक छवि मात्र था– जो उन्हें 'अंतरराष्ट्रीयतावादी' व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत करती है, न कि आत्मनिष्ठ भारतीयता और भारतीय संस्कृति की गहरी समझ रखने वाले शास्त्रज्ञ या स्वामी के रूप में। आचार्य मुखोपाध्याय के मतानुसार, किसी व्यक्ति को भारतीय संदर्भ में आत्मनिष्ठ राष्ट्रवादी तभी कहा जा सकता है जब वह अपने सांस्कृतिक और सामाजिकता के ताने–बाने से आंतरिक रूप से जुड़ा हो। इसी तर्क को समर्थन देने के लिए वे महात्मागांधी और के. सी. भट्टाचार्य जैसी विभूतियों का उदाहरण देते हैं, जिन्हें वे आत्मनिष्ठ राष्ट्रवाद का आदर्श मानते हैं। अंततः यह सवाल उठता है कि किसी व्यक्तित्व को केवल उसके ग्रंथों, भाषणों या सामाजिक–राजनीतिक गतिविधियों से ही समझा जा सकता है, या उसके व्यापक सांस्कृतिक प्रभाव और जीवन पर भी ध्यान देना आवश्यक है। इस तरह का विश्लेषण आधुनिक भारतीय राजनीतिक विमर्श में संस्कृति और राष्ट्रवाद के संबंध को नई गहराई प्रदान करता है।

आलोचनात्मक दार्शनिक दृष्टि से, स्वामी विवेकानन्द जैसे व्यक्तित्व से "भेंट" करना कभी आसान नहीं होता–विशेष करतब, जब उन्हें


ISSN-0974-0053 (Refereed Journal)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


युवाओं के आदर्श, सांस्कृतिक पुनर्जागरण के प्रतीक, या युग नायक और उद्धारक के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है। जैसा कि बद्रीनाथ चतुर्वेदी ने अपनी कृति Swami Vivekananda : The Living Vedant (2006) में लिखा है –"आप विवेकानन्द जैसे व्यक्ति को केवल पढ़ते नहीं हैं; उन्हें पढ़ते हुए, आप उनसे मिलते हैं।" यह कथन स्मरण कराता है कि विवेकानन्द को समझने के लिए सिर्फ बौद्धिक अध्ययन नहीं, बल्कि सजगता, जिज्ञासा और उनके व्यक्तित्व एवं विचारों से संवाद करने की तत्परता भी आवश्यक है। इसी दृष्टि पर आधारित संकलन Swami Vivekananda : His Life, Legacy, and Liberative Ethics (Maharaj -Beckerlegge, 2021), विवेकानन्द को एक आदर्श पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित करता है। इसमें उनके विचारों की यात्रा को आध्यात्मिकता, सामाजिक प्रतिबद्धता और सांस्कृतिक समालोचना के बीच गतिशील रूप में दिखाया गया है, जहाँ वे औपनिवेशिक भारत की जटिलताओं–आस्था और आधुनिक तर्कशीलता, सांस्कृतिक गर्व और राजनीतिक दासता के बीच–सतत संवाद करते एक जीवंत विचारक के रूप में उभरते हैं। इन व्याख्याओं में विवेकानन्द सिर्फ प्रतीक नहीं, बल्कि अपने समय और समाज से संवाद करने वाली एक जीवित आवाज हैं। लोकमानस में उन्हें अक्सर सभी प्रकार की समस्याओं–चाहे सांस्कृतिक, राष्ट्रीय, सभ्यतागत या धार्मिक–का समाधान मान लिया गया है। देविका रंगाचारी (2011) और पी. आर. भुयान (2003) जैसे विद्वान् उन्हें दूरदर्शी, उद्धारक और प्रेरणा–स्रोत के रूप में देखते हैं। इसके परिणामस्वरूप उनके जीवन और विचारों के अंतर्विरोध, समझौते और बौद्धिक द्वंद्व अनदेखे रह जाते हैं, और हमारे पास केवल एक आदर्शीकृत छवि रह जाती है–एक जीवित व्यक्तित्व नहीं, जिसकी दृष्टि लगातार विकसित होती रही।

समग्र रूप से देखा जाए तो अधिकांश विद्वत्तापूर्ण व्याख्याएँ–कुछ अपवादों को छोड़कर, जिनकी चर्चा आगे की विवेचना में की जाएगी–अक्सर वही परिचित आख्यान दोहराती हैं, जो स्वयं विवेकानन्द और उनके अनुयायियों द्वारा रचित और प्रसारित किया गया। दूसरे शब्दों में कहें तो, ये सभी व्याख्याएँ विवेकानन्द को मुख्यतः एक सभ्यतागत पुनरुत्थानवादी (civilizational revivalist) के रूप में प्रस्तुत करती हैं, न कि एक राजनीतिक कार्यकर्ता और ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप में–और यह दृष्टिकोण कुछ हद तक भ्रामक प्रतीत होता है। इसकी वजह से हम यह भूल

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



जाते हैं कि विचार भले ही देश–काल से परे हों, परंतु व्यक्तित्व तो देश, काल और इतिहास का हिस्सा होता ही है। गांधी का जीवन इसका जीवंत उदाहरण है–उन्होंने सत्य और अहिंसा को भले ही सार्वकालिक माना, परंतु अपने व्यक्तित्व को लेकर वे कभी इतने सजग नहीं रहे कि अपने कार्य को छोड़कर अपनी छवि की चिंता करने लगें। आइए, हम अपने मूलभूत विषय पर लौटते हैं। सामान्यतः यह माना जाता है कि विवेकानन्द ने वेदान्त दर्शन की ओर पुनरागमन के माध्यम से राष्ट्र की अवधारणा को पुनर्परिभाषित किया–जहाँ 'मनुष्य–निर्माण शिक्षा', 'आध्यात्मिक एकता', और 'दरिद्रनारायण' की सेवा को राष्ट्र निर्माण की नींव माना गया। इस दृष्टिकोण के अनुसार, किसी बाह्य क्रांति से पहले आंतरिक परिवर्तन आवश्यक था; इसी ने नई राष्ट्रीय चेतना को जन्म दिया, जिसने आगे चलकर श्री अरविन्द, सुभाषचन्द्र बोस और अन्य विचारकों को प्रेरित किया।

फिर भी, यह उत्सवधर्मी छवि कोई नई व्याख्या नहीं है; यह उस राष्ट्रीयतावादी प्रवृत्ति का विस्तार है जिसने विवेकानन्द को भारत के आध्यात्मिक और राष्ट्रीय भाग्य के "ऋषि" या "मसीहा" के रूप में मिथकीकृत कर दिया (Badrinath, 2006; Sherma, 2021)। अतः इस प्रकार का साहित्य किसी नए दृष्टिकोण के रूप में नहीं, बल्कि विवेकानन्द के भाषण और उनके अनुयायियों द्वारा दशकों तक पोषित एक व्यापक आख्यान के अंग के रूप में समझा जाना चाहिए। यह आख्यान भारत की आध्यात्मिक विशिष्टता को प्रमुखता देता है, लेकिन सांस्कृतिक आयाम, सैद्धान्तिक योगदान, सामाजिक–राजनीतिक संरचना, युक्तिसंगत विश्लेषण और संस्थागत सुधार जैसे महत्वपूर्ण प्रश्नों को प्रायः गौण कर देता है।

विशेषकर इस प्रकार का वृत्तांत सैद्धान्तिक योगदान के लिए खतरनाक हो सकता है, क्योंकि यह दार्शनिक के कार्यों को उनके मूल आयाम से हटाकर केवल एक प्रचारात्मक या प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत करता है। यदि इसे अनजाने में किसी अन्य सभ्यता या संस्कृति के संदर्भ से बदल दिया जाए, तो हम देख सकते हैं कि विचार सैद्धान्तिक चेतना से हटकर डॉगमैटिक जाल में फंस सकता है। यही बात हमें सोचने पर मजबूर करती है : जिस प्रकार हम भारतीय दर्शन की पुस्तकों में अनेक आचार्यों और उनके विशिष्ट सिद्धांतों का अध्ययन करते हैं, क्या उसी प्रकार विवेकानन्द को भी देखा जा सकता है? क्या हम यह कल्पना कर सकते हैं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


कि 200–300 साल बाद भारतीय दर्शन में जहाँ आज सिद्धांतों और दार्शनिक समस्याओं पर चर्चा होती है, वहीं विवेकानन्द के आख्यान को पढ़ाया और समझाया जाएगा? उदाहरण के लिए, भारतीय दर्शन में संबंध की समस्या, सृष्टिवाद और अजातिवाद जैसी जटिल समस्याएँ इतनी गहन हैं कि लगभग हर परंपरा ने उन पर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया है। लेकिन क्या हम यह गहन चिंतन विवेकानन्द के विचारों में भी कर पा रहे हैं? संभव है कि हो, लेकिन उनके विचारों का कोई विवादात्मक या संवादात्मक प्रस्तुतिकरण हमारे सामने उपलब्ध नहीं है। और यही कारण है कि हमें विवेकानन्द के विचारों का पुनः पाठ करने की आवश्यकता है–उन्हें केवल आदर्श या प्रतीक के रूप में नहीं, बल्कि एक सक्रिय, संवादात्मक और दार्शनिक दृष्टि से मूल्याँकन योग्य व्यक्ति के रूप में समझने के लिए।

राष्ट्रवाद के मूल में "आध्यात्मिक उत्थान" को रखकर यह औपनिवेशिक दासता और सांस्कृतिक संघर्षों की जटिल यथार्थताओं को बहुत सरल बना देता है। यह स्वीकार करना आवश्यक है कि विवेकानन्द के प्रति प्रशंसा सहज और उचित है। उनकी ऊर्जा, स्पष्टता और दृष्टि आकर्षक हैं। किंतु प्रशंसा चिंतन का विकल्प नहीं हो सकती। गांधी की भाँति, जिनके विचारों की बार–बार आलोचनात्मक पुनर्समीक्षा हुई है, विवेकानन्द पर गंभीर आलोचनात्मक विमर्श अपेक्षाकृत दुर्लभ रहा है। उनका सार्वजनिक व्यक्तित्व लगभग पवित्र बना दिया गया है, जिससे उनके विचारों के सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक संदर्भों पर चर्चा सीमित हो जाती है। श्रद्धा और आलोचना के बीच यही संवाद उन्हें वास्तव में समझने का एकमात्र मार्ग है। यह अध्ययन उसी दिशा में प्रयास करता है–जहाँ विवेकानन्द को इतिहास और संस्कृति की पृष्ठभूमि में रखते हुए उनके विचारों की शक्ति और सीमाओं दोनों का विवेकपूर्ण परीक्षण किया जाता है। इस प्रकार हम उनसे पुनः मिल सकते हैं–एक स्मारक के रूप में नहीं, बल्कि एक जीवंत प्रश्न के रूप में, जो आज भी हमारे समय से संवाद कर रहा है। इस संवाद में आचार्य प्रद्योत कुमार मुखोपाध्याय की अंतर्दृष्टि, जो हमारे विचार–विमर्श का केंद्रीय बिंदु होगी, एक महत्वपूर्ण दार्शनिक मार्गदर्शक के रूप में कार्य करती है–जो विवेकानन्द के राष्ट्रवाद और संस्कृति के दर्शन की संभावनाओं तथा सीमाओं, दोनों का उद्घाटन करती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



आचार्य मुखोपाध्याय अपनी संवादात्मक कृति "भारतीयता की आत्मगवेषणाः आधुनिक भारत की निर्मिति पर न्यायशास्त्रीय दृष्टि" में विवेकानन्द के विचारों के साथ एक कहीं अधिक आलोचनात्मक, गहन एवं विमर्शात्मक दृष्टि प्रस्तुत करते हैं। भारतीय शास्त्रीय परंपराओं और बंगाल की सांस्कृतिक इतिहासपरक चेतना से प्रेरणा लेते हुए मुखोपाध्याय विवेकानन्द के तथाकथित "मृदु–आध्यात्मिकता" (soft & spiritualism) या "मृदु–अद्वैतवाद" (soft & Advaitism) की दार्शनिक वैधता और सामाजिक–सांस्कृतिक प्रयोज्यता दोनों पर प्रश्न उठाते हैं। उनकी आलोचना का मूल तर्क यह है कि विवेकानन्द का सार्वभौमिकतावादी वेदान्त साध्य (जिसे साधना द्वारा प्राप्त किया जाना है) और सिद्ध (जो पहले से ही प्राप्त हो चुका है) के बीच की अनिवार्य भेद रेखा को ध्वस्त कर देता है। यद्यपि "सर्वंखल्विदंब्रह्म"–"सब कुछ एक ही है"–जैसा तत्वदर्शनात्मक कथन कथानक स्तर पर आकर्षक है, किन्तु जब इसे एक साधनात्मक या मुक्ति–उन्मुख आकांक्षा के बजाय एक तत्कालिक आध्यात्मिक सत्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तब यह दार्शनिक और सामाजिक–सांस्कृतिक रूप से समस्याग्रस्त हो उठता है। आचार्य मुखोपाध्याय के अनुसार, शास्त्रीय अद्वैत वेदान्त किसी भी अनुभवजन्य, भविष्यवाणीय या परंपरागत अर्थ में "सभी प्राणी एक हैं" का प्रत्यक्ष कथन नहीं करता। इसके विपरीत, वह यह प्रतिपादित करता है कि इस एकत्व–बोध–ब्रह्मात्मैक्य (ब्रह्म और आत्मा की ऐक्यता)–की अनुभूति तभी संभव है जब साधक अधिकारित्व (spiritual eligibility) अर्जित कर ले, जो केवल दीर्घकालीन साधना और साधन चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व) के अभ्यास से ही संभव है (Yogīndra, 2018)।

ये साधनाएँ अविद्या (अज्ञान) के उस आवरण को हटाने के लिए अनिवार्य हैं, जो आत्मा के यथार्थ स्वरूप को ढँक देता है। विवेकानन्द की व्याख्याऐ, तथापि, प्रायः तत्त्वदर्शनात्मक अंतर्दृष्टि और सामाजिक प्रयोग के बीच की सूक्ष्म सीमा को मिश्रित कर देती हैं। वे अस्तित्व की एकता जैसे तत्त्वदर्शनात्मक सिद्धांतों से सीधे राजनीतिक या नैतिक निष्कर्ष निकालने का प्रयास करते हैं, जिससे अद्वैत परंपरा में अपेक्षित मध्यवर्ती साधनात्मक अवस्थाओं की उपेक्षा हो जाती है। आचार्य मुखोपाध्याय इस बौद्धिक चूक के सांस्कृतिक और दार्शनिक परिणामों के प्रति भी सचेत हैं। जब विवेकानन्द

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


की शिक्षाए आधुनिक समाज के समक्ष राष्ट्रवादी या आध्यात्मिक भाषा में प्रस्तुत की जाती हैं, तो उनमें आध्यात्मिक उदारता के साथ–साथ सांस्कृतिक जड़ता का जोखिम उत्पन्न होता है। अद्वैत के तत्त्वदर्शनात्मक सूत्रों का नारास्वरूप दोहराव नैतिक और आत्म संतोष का रूप ले सकता है। दूसरे शब्दो में, विवेकानन्द का "आध्यात्मिक राष्ट्रवाद" भावनात्मक रूप से प्रेरक और वक्तृता–प्रधान अवश्य है, परंतु उसमें भारतीय दार्शनिक परंपरा की वह आत्मपरिवर्तनशील गहराई और ज्ञानात्मक संयम अक्सर अनुपस्थित रहता है, जो उसे विशिष्ट बनाता है।

ध्यान देने योग्य बात यह है, जैसा कि ऊपर उल्लिखित बातों से विदित हो चुका होगा, कि आचार्य मुखोपाध्याय की आलोचना केवल दार्शनिक ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और ऐतिहासिक भी है। उदाहरण के तौर पर वे अद्वैत वेदांत के संदर्भ में स्पष्ट करते हैं कि यह कोई एकाकी तंत्र नहीं रहा। उसका विकास सदैव एक गतिशील संवाद के माध्यम से हुआ है–सांख्य, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा विविध बौद्ध परंपराओं के साथ–साथ वेदान्त के ही भीतर विशिष्टाद्वैत और जैसे प्रतिपक्षी तंत्रों के साथ। इसके अतिरिक्त, स्वयं अद्वैत परंपरा के भीतर भी आंतरिक विकास और मतभेद हुए हैं– प्राक्शांकर वेदान्तियों से लेकर शंकराचार्य, शांकतोत्तर दार्शनिकों जैसे पद्मपाद, सुरेश्वर, वाचस्पतिमिश्र, और आधुनिक युग के विचारकों जैसे सच्चिदानन्देन्द्रसरस्वती, जी. आर. मलकानी, के. सी. भट्टाचार्य आदि तक (Appayya Dīkṣita, 1935; Nakamura, 1983; Satchidanandendra, 1997; Roodurmum, 2002)। यह आलोचना आगे और गहराई प्राप्त करती है जब हम आचार्य मुखोपाध्याय के उस अवलोकन पर ध्यान देते हैं कि विवेकानंद यद्यपि अद्वैत वेदान्त के प्रबल समर्थक थे, उन्होंने काली–पूजा जैसी प्रथाओं को भी बढ़ावा दिया। आचार्य मुखोपाध्याय के अनुसार, यह वस्तुतः दो मूलतः असंगत तत्त्वों को मिलाने का प्रयास था – मानो उन तत्त्वों को एक साथ बाँधने की कोशिश की जा रही हो, जो स्वभावतः एक–दूसरे के अनुरूप नहीं हैं। विवेकानंद के ऐसे ही दृष्टिकोण वस्तुतः शास्त्रीय आचार्यों के विचारों से भिन्न प्रतीत होते हैं। इसके अनेक उदाहरण भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में मिलते हैं – चाहे वह वैष्णव वेदान्तियों द्वारा शंकराचार्य को 'प्रच्छन्नबौद्ध' कहकर कटाक्ष करना हो, या शंकराचार्य द्वारा सांख्यदर्शन को 'प्रधान–मल्ल' अथवा 'मुख्य प्रतिद्वंद्वी' कहकर संकेत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



करना हो – इन सभी उदाहरणों में शास्त्रीय सिद्धांतों की शुद्धता और तार्किक संगति पर विशेष ध्यान दिया गया है।

परंतु इस प्रकार की प्रवृत्ति हमें विवेकानन्द में नहीं मिलती। वे शास्त्रीय या तर्किक शुद्धता पर विशेष ध्यान न देते हुए सीधे संश्लेषण की ओर अग्रसर हो जाते हैं। आचार्य मुखोपाध्याय का तर्क है कि यह प्रवृत्ति दार्शनिक सुसंगतता की अपेक्षा अधिक राजनीतिक प्रेरणा से संचालित थी, जिसका उद्देश्य जन–स्वीकृति प्राप्त करना और सांस्कृतिक सहानुभूति अर्जित करना था।

आचार्य मुखोपाध्याय इस प्रकार की प्रवृत्तियों के प्रति गहन संशय रखते हैं और इसे सच्चे सांस्कृतिक निष्ठा की कमी मानते हैं। उनके लिए संस्कृति के प्रति निष्ठा का अर्थ केवल भाषणों या प्रतीकात्मक समर्थन से नहीं था, बल्कि उससे प्रत्यक्ष साक्षात्कार करना था– अपनी आँखों से देखना, न कि जन–भावना की उधार दृष्टि से। इतनी समृद्ध और सूक्ष्म परंपरा की पृष्ठभूमि में मुखोपाध्याय यह प्रश्न उठाते हैं कि यद्यपि विवेकानंद को वेदान्त को वैश्विक मंच पर लाने के लिए सराहा जाता है, क्या उन्होंने जो संस्करण प्रस्तुत किया, वह उसके मूल तात्त्विक आत्मा के प्रति सच्चा था? भारतीय दर्शन और संस्कृति की आलोचनात्मक संरचना तथा द्वंद्वात्मक निष्ठा, जो इसकी पहचान रही है, विवेकानंद के लेखन और भाषणों में, आचार्य मुखोपाध्याय के अनुसार, प्रायः अनुपस्थित है। इसके स्थान पर वहाँ प्रेरणात्मक, भावनात्मक और व्यापक आश्वासनों से भरी हुई वाणी मिलती है, जो गहन आत्मचिंतन या तात्त्विक विमर्श की अपेक्षा जनोन्मुख प्रेरणा पर अधिक केंद्रित है।

यद्यपि यह भाषण–शैली जन–आकर्षण उत्पन्न करने और अंतरराष्ट्रीय ध्यान प्राप्त करने में अत्यंत प्रभावी सिद्ध हुई, किंतु इसके परिणामस्वरूप भारतीय तात्त्विक परंपरा की सूक्ष्मता और गहराई कहीं न कहीं क्षीण होती दिखाई देती है। आचार्य मुखोपाध्याय तो यहाँ तक संकेत करते हैं कि विवेकानंद का यह तरीका वैचारिक प्रचार (ideological propaganda) से मिलता–जुलता है, और इसकी तुलना वे मार्क्सवादी प्रचार–पद्धति से करते हैं।

उनका मत है कि विवेकानंद का वाङ्मय एक अभियान–शैली अपनाता है–जहाँ भाषा में भावनात्मक प्रवाह, दावे, और आत्मविश्वास भरने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


वाली प्रेरक वाणी का प्रयोग प्रमुख है– जो उनके अनुसार एक प्रचारक–शैली की विशिष्ट पहचान है। निस्संदेह, यह उन्हें एक अंतरराष्ट्रीयतावादी के रूप में प्रतिष्ठित करता है, परंतु क्या इससे उन्हें एक आत्मनिष्ठ राष्ट्रवादी भी माना जा सकता है–यह प्रश्न अब भी खुला रहता है। इसे और स्पष्ट करने के लिए आचार्य मुखोपाध्याय का यह दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण है कि के. सी. भट्टाचार्य और महात्मागांधी जैसे विचारक भारतीय संस्कृति और राष्ट्रवाद पर अधिक गहन चिंतन में संलग्न थे–ऐसा चिंतन जो आत्मपरीक्षण, ऐतिहासिकता और आलोचनात्मक आत्म–जिज्ञासा पर आधारित था। दोनों विचारकों ने पश्चिमी संस्कृति को बिना आलोचना अपनाने की प्रवृत्ति को चुनौती दी और इसके स्थान पर स्वदेशी तात्त्विक संसाधनों की पुनराविष्कार की वकालत की। आचार्य मुखोपाध्याय भारतीयता की एक अधिक प्रामाणिक अवधारणा की कल्पना करते हैं–ऐसी भारतीयता जो बाह्यमान्यता से नहीं, बल्कि अंतः स्वच्छता और सांस्कृतिक निष्ठा से उत्पन्न होती है। उनके चिंतन का केन्द्रीय बिन्दु भारत की उस आत्म–छवि की पुनर्प्राप्ति है, जिसे वे मानते हैं कि औपनिवेशिक शिक्षा और पाश्चात्य बौद्धिक ढाँचों ने विकृत कर दिया है। उनका विमर्श दो परस्पर सम्बद्ध प्रश्नों पर केन्द्रित है –पहला, कि भारतीय संस्कृति स्वयं को अपने भीतर से किस प्रकार समझती है; और दूसरा, कि आधुनिक भारत किस प्रकार विदेशी प्रतिमानों के अधीन निर्मित हुआ है।

यहाँ यह भी एक ध्यान देने योग्य बात है कि भारतीय सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में विचारक और प्रचारक के मध्य अंतर अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, विशेषकर आधुनिक समय में जब प्रचारक की भूमिका अक्सर विचारक को छाया में डाल देती है। विचारक भारतीय चिंतन–परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं–वे विवेक, मनन और दार्शनिक अनुशीलन की सूक्ष्म साधना पर आधारित होते हैं। उनका कार्य विचारों की गहराई को समझना, उनका सटीक विश्लेषण करना और सांस्कृतिक तथा दार्शनिक सूक्ष्मताओं की रक्षा करना होता है। इसके विपरीत, प्रचारक का कार्य विचारों का प्रसार, जनसमूह को संगठित करना और व्यापक संप्रेषण के माध्यम से प्रभाव स्थापित करना है। यह भेद अपने आप में समस्या नहीं है; भारतीय परंपरा ने सदैव दोनों की आवश्यकता को स्वीकार किया है। तथापि, जब प्रचार की प्रवृत्ति प्रधान हो जाती है, तब संस्कृति का निर्माण सार की जगह दृश्यता और प्रभावोत्पादन की तकनीकों से होने लगता है, जिससे भावनात्मक भाषा,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



नारे और संप्रेषण–कौशल दार्शनिक गहराई पर हावी हो जाते हैं। इस असंतुलन का उदाहरण स्वामी विवेकानंद जैसे महान व्यक्तित्व में भी दिखाई देता है। यद्यपि उनके योगदान असंदिग्ध हैं, किंतु आचार्य मुखोपाध्याय सहित अनेक विद्वान् यह संकेत देते हैं कि उनकी शैली मूलतः विचारक की अपेक्षा प्रचारक की थी। विवेकानंद ने जटिल वेदान्तिक धारणाओं को व्यक्त करने के लिए प्रायः प्रचारात्मक, भावनात्मक और उद्‌बोधन–प्रधान भाषा का प्रयोग किया। उनका उद्देश्य निःसंदेह राष्ट्रीय जागरण और आध्यात्मिक पुनरुत्थान था, परंतु उनकी विधि–जिसमें तीखे वाक्य–प्रयोग, प्रभावकारी कथन और आध्यात्मिक विचारों का सरलीकरण प्रमुख था– कभी–कभी पारंपरिक शास्त्रीय विचारक के सूक्ष्म विश्लेषण से दूर चली जाती थी। इससे ऐसी स्थिति बनी, जिसमें आकर्षण और प्रेरणा ने विश्लेषणात्मक गहराई को पीछे छोड़ दिया और सांस्कृतिक विमर्श में करिश्माई सार्वजनिक वक्तृत्व को दार्शनिक मनन से अधिक महत्त्व मिलने लगा।

दीर्घकाल में प्रचारक–प्रधान प्रवृत्ति भारतीय बौद्धिक संस्कृति को इस प्रकार प्रभावित करती है कि विचार उपभोज्य उत्पाद बन जाते हैं, दार्शनिक जटिलता प्रेरक नारों में सिमट जाती है, और चिंतन की वह मननशील साधना–जो कभी भारतीय सभ्यता की पहचान थी– हाशिये पर पहुँच जाती है।

यह आलोचना विवेकानंद की निष्ठा या उनके उद्देश्य को कम नहीं करती; बल्कि यह उस व्यापक सांस्कृतिक प्रवाह को रेखांकित करती है, जहाँ प्रचार अपनी प्रभावोत्पादक तकनीकों के कारण धीरे–धीरे विचार की शांत, गहरी और विश्लेषणात्मक आवाज पर हावी हो जाती है। आधुनिक तकनीकी और मीडिया–प्रधान विश्व में यह प्रश्न और अधिक गंभीर हो गया है। आज संचार की गति, डिजिटल मंचों की पहुँच, एल्गोरिथ्मिक प्राथमिकताएँ और दृश्य–प्रधान सामग्री का आकर्षण प्रचारक प्रवृत्तियों को स्वाभाविक रूप से बढ़ावा देता है। इसके परिणाम स्वरूप विचारशीलता, सूक्ष्मता और दार्शनिक गहराई को अक्सर "धीमा" या "अलोकप्रिय" मानकर उपेक्षित किया जाता है। किंतु यही वह समय है जब समाज को विचारशीलता को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिए, क्योंकि केवल विचार ही संस्कृति को स्थायित्व प्रदान करते हैं, सत्य और असत्य में भेद स्थापित करते हैं, और मनुष्य को मनोवैज्ञानिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक संतुलन देते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


इसलिए आधुनिक मीडिया–युग में विचारक की भूमिका अधिक अनिवार्य हो जाती है, ताकि प्रचार की उथली चमक भारतीय बौद्धिक परंपरा के मूल–विवेक, मनन और सत्य–चिंतन को ढँक न सके। भगवान बुद्ध और आचार्य शंकर स्वयं में विचारक और प्रचारक दोनों थे, किंतु वे प्रचारक से कहीं अधिक गंभीर और मौलिक विचारक थे। उनकी शिक्षाओं का प्रसार व्यापक था, परंतु वह प्रसार उनके गहन दर्शन, तत्त्व चिंतन और आत्मानुभूति की स्वाभाविक परिणति थी, न कि किसी तकनीकी प्रचार–कौशल या प्रभावोत्पादक रणनीति का परिणाम। इसी कारण उनका विचार उनके प्रचार के पीछे नहीं चलता था; बल्कि उनके विचारों की प्रामाणिकता और गहराई ही उनके प्रसार का आधार बनती थी। वे भारतीय परंपरा के उस आदर्श का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें मनन, विवेक और तत्त्वमीमांसा स्वयं जनमानस को आकर्षित कर लेती है। आधुनिककाल में महात्मा गांधी पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे दार्शनिक नहीं थे, परंतु जब हम उनके विचारों को वर्तमान युग की ऊपर उल्लिखित समस्याओं के संदर्भ में रखते हैं–जहाँ प्रचार की चमक विचार की गहराई को ढँक देती है–तब स्पष्ट होता है कि गांधी एक गंभीर सांस्कृतिक और नैतिक विचारक थे।

उन्होंने आधुनिकता के प्रचार–तंत्र, उसकी उपभोक्तावादी मानसिकता, और यूरोपीय आधुनिकता की उस प्रवृत्ति को बहुत जल्दी पहचान लिया था जो समाजों को सतही प्रगति के भ्रम में बाँध देती है। यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि भारत की गुलामी के कारणों में से एक कारण यह भी था कि यूरोपीय आधुनिकता ने अपने प्रचार–कौशल, तकनीकी श्रेष्ठता और वैचारिक प्रभुत्व के बल पर उपनिवेशित समाजों में एक ऐसी मानसिकता उत्पन्न कर दी, जिसने मौलिक विचारशीलता को कमजोर किया।

इन ऐतिहासिक उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि किसी भी राष्ट्र या समाज के लिए विचारशीलता, आत्म–समीक्षा और दार्शनिक सतर्कता किस हद तक महत्त्वपूर्ण होता है।

प्रचार–प्रधान युग में विचारक की भूमिका इसलिए और महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि वह समाज को यह चेतना दे सके कि वास्तविक शक्ति विचारों की गहराई में छुपी होती है, न कि प्रचार की चमक–दमक में। यह भी एक ध्यान देने योग्य बात है कि इतिहास में जब भी विचारशीलता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



कमजोर हुई है और प्रचार ने अत्यधिक शक्ति प्राप्त की है, तभी सांस्कृतिक भ्रम, सामाजिक विभाजन और बौद्धिक निर्भरता बढ़ी है। प्रचार तात्कालिक आकर्षण तो उत्पन्न करता है, परंतु वह मनुष्य और समाज को गहरी नैतिक एवं बौद्धिक स्थिरता प्रदान नहीं कर सकता। इसके विपरीत विचारशीलता दीर्घकालिक रूप से व्यक्तित्व, समाज और राष्ट्र तीनों को दिशा देती है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम विचार और विवेक को प्राथमिकता दें, ताकि हम प्रचार के मोहक प्रभाव में अपने मूल्यों और सांस्कृतिक आत्मा को न खो दें।

यही कारण है कि आचार्य मुखोपाध्याय भारतीय संस्कृति को समग्र, प्राचीन और आत्मसजग बताते हैं, जो परम्परा में निहित है और "सा प्रथमा संस्कृतिःविश्ववारा" जैसे वाक्यांश द्वारा व्यक्त उसकी वैश्विक प्रासंगिकता, समावेशिता और सभ्यतागत उत्कर्ष का प्रतीक है। उनके अनुसार, यह संस्कृति आत्मचिंतनशील और अनुकूलनशील है, किन्तु एक अखंड मूल पहचान में स्थिर भी है। वे इस बात की आलोचना करते हैं कि किस प्रकार औपनिवेशिक प्रभावों के कारण भारतीय स्वदेशी ज्ञान–परम्पराएँ–विशेषतः दर्शन–हाशिए पर चली गई और पश्चिमी चिंतन को मानक मानने से भारत अपनी मौलिक सांस्कृतिक चेतना से दूर हो गया। आचार्य मुखोपाध्याय आधुनिक विचारधाराओं की भी समीक्षा करते हैं, जो भारत को केवल एक बहुसांस्कृतिक (multicultural) इकाई के रूप में देखने की प्रवृत्ति रखती हैं। उनके अनुसार, इस प्रकार की दृष्टि भारत की मूल एकात्मता को विखंडित करती है और उसकी प्रामाणिक सांस्कृतिक छवि को धूमिल करती है। वे भारतीय न्याय परम्परा की विश्लेषणात्मक गम्भीरता को इस सांस्कृतिक पुनर्प्राप्ति के औजार के रूप में प्रस्तुत करते हैं– ऐसा औजार जो संस्कृति की यथार्थ समझ विकसित करने और भारत की पहचान को उसके अपने तात्त्विक और बौद्धिक सन्दर्भों में पुनःस्थापित करने में सहायक है।

आचार्य मुखोपाध्याय का दृष्टिकोण केवल एक शैक्षणिक आलोचना तक सीमित नहीं है; यह एक सांस्कृतिक अभियान है– भारत की उस वाणी को पुनः प्राप्त करने का प्रयास, जो पाश्चात्य वर्गीकरणों पर नहीं, बल्कि भारतीय आत्मबोध और आध्यात्मिक दृष्टि पर आधारित है। इसी भावना में, गांधी और के. सी. भट्टाचार्य जैसे विचारक उनके लिए सच्चे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


राष्ट्रवादी हैं। क्योंकि, उन्होंने भारतीयता की उद्घोषणा मात्र नहीं की, बल्कि उसे आत्म–समीक्षा, आलोचनात्मक संलग्नता और रूपान्तरणकारी सामाजिक कार्य के माध्यम से साकार किया। जैसा कि मुखोपाध्याय स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं।

टैगोर, गांधी और विवेकानंद लगभग समकालीन थे। विभिन्न कारणों से मैं स्वयं महात्मागांधी का भी आलोचक रहा हूँ। तथापि, एक तथ्य निर्विवाद है– मेरे विचार में केवल गांधी ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने वास्तव में राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सोचा; अन्य दोनों अंतरराष्ट्रीयतावादी थे। चाहे रवीन्द्रनाथ टैगोर हों या विवेकानंद दोनों ही अंतरराष्ट्रीय दृष्टि के प्रतिनिधि थे। इसके विपरीत, गांधी एक निष्ठावान राष्ट्रवादी थे। जब रोम्याँरोलाँ (Romain Rolland) ने उन्हें यूरोप आने और वहाँ अपना संदेश प्रसारित करने का निमंत्रण दिया, तो गांधी ने उसे अस्वीकार करते हुए कहा 'मेरा कार्य भारत में है। यदि मैं यहाँ सफल होता हूँ, तो वहाँ आने पर विचार करूँगा।' (मुखोपाध्याय, 2025, पृ. 23)

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, आचार्य मुखोपाध्याय की आलोचना का एक विशेष रूप से प्रभावशाली बिंदु यह है कि विवेकानंद ने अपने समकालीनों के साथ गंभीर दार्शनिक संवाद नहीं किया, जबकि उनके कई समकालीन भी आधुनिक भारत में वेदांत के दार्शनिक और राजनीतिक महत्त्व से जूझ रहे थे। ऐसे ही एक व्यक्तित्व श्रीअरविंद हैं, जिन्हें प्रायः आधुनिक अद्वैतवादी माना जाता है, परंतु उन्होंने स्वयं को शास्त्रीय अद्वैत से स्पष्ट रूप से अलग किया था, क्योंकि वे लीलावाद (ईश्वरीय लीला का सिद्धांत) के प्रति प्रतिबद्ध थे। फिर भी, श्रीअरविंद की वेदांत की व्याख्या कहीं अधिक द्वंद्वात्मक, समन्वयवादी और आध्यात्मिक रूप से क्रांतिकारी है। जैसा कि उनकी रचनाओं में मिलता है, श्रीअरविंद ने केवल "सर्वंखल्विदंब्रह्म" ("यह सब वास्तव में ब्रह्म ही है") के सूत्र को एक पारलौकिक सत्य के रूप में नहीं दोहराया; बल्कि उन्होंने इसे विकासवादी अध्यात्मवाद, समग्रयोग और व्यक्तिगत तथा सामूहिक परिवर्तन की आवश्यकता के दृष्टिकोण से पुनः व्याख्यायित किया (Mishra, 1988)। मुखोपाध्याय यह टिप्पणी करते हैं कि विवेकानंद और श्रीअरविंद के बीच कोई सार्थक बौद्धिक संवाद नहीं हुआ। यह एक ऐसा मौन जो एक गंभीर प्रश्न उठाता है : क्या विवेकानंद वास्तव में किसी कठोर दार्शनिक परियोजना में संलग्न थे, या उनका ध्यान मुख्यतः

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



आध्यात्मिक कूटनीति, विचारधारात्मक प्रचार और छवि–निर्माण पर था? समकालीन चिंतकों के साथ इस प्रकार की संवादहीनता मुखोपाध्याय के अनुसार एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक और दार्शनिकरिक्तता (lacuna) का प्रतिनिधित्व करती है, जो उनके मत में भारतीय बौद्धिक परंपरा के लिए अस्वाभाविक है। वे स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं :

> भारत हमेशा से खुली बहस और संवाद का समाज रहा है। किसी को भी आलोचना से अछूता नहीं रखा गया–न तो शंकराचार्य और न ही रामानुजाचार्य। हर किसी को आलोचना का सामना करना पड़ता था। एक चिंतक दूसरे चिंतक के विचारों के साथ खुलकर और गंभीरता से संवाद करता था। लेकिन विवेकानंद और श्रीअरविंद द्वारा निर्मित भारत में यह वाद–विवाद की परंपरा पूरी तरह अप्रासंगिक हो गई है, और उसकी जगह केवल भक्ति की परंपराओं ने ले ली है। अब विचारकों को केवल श्रद्धांजलि देने के लिए याद किया जाता है। लेकिन सम्मान प्रकट करने का यह तरीका भारतीय नहीं है। हमारा तरीका यह है कि जिसे हम सम्मान देते हैं, उसके विचारों को आलोचनात्मक रूप से पढ़ने और समझने का प्रयास करते हैं। मैं एक कट्टर न्याय सिद्धांतकार हूँ, परंतु मुझे शंकराचार्य के प्रति अत्यंत सम्मान है और मैं इसमें कोई विरोधाभास नहीं देखता (मुखोपाध्याय, 2025, पृ. 91)।

इस आलोचना को ध्यान में रखते हुए हम यह समझ सकते हैं कि विवेकानंद को एक प्रकार के अंतरराष्ट्रीयतावादी के रूप में क्यों देखा जाना चाहिए – ऐसे व्यक्ति के रूप में, जिन्होंने भारतीय संस्कृति के कुछ विशिष्ट तत्त्वों को चुनिंदा रूप से प्रस्तुत किया, चाहे वह उनकी आध्यात्मिकता हो, अद्वैतवाद का उनका विशेष संस्करण, या वेदों और उपनिषदों पर उनका जोर। किंतु आचार्य मुखोपाध्याय के अनुसार किसी व्यक्ति को सच्चे अर्थों में राष्ट्रवादी कहा जाने के लिए कुछ आवश्यक गुण और मानदंड होने चाहिए– जैसे दार्शनिक गहराई और सांस्कृतिक आत्मीयता – जिनमें विवेकानंद का योगदान कुछ हद तक असंतोषजनक प्रतीत होता है। मुखोपाध्याय का दृष्टिकोण इस विषय में स्पष्ट है : यदि किसी संस्कृति में अंतर्निहित मूल्य और शक्ति है, तो वह स्वाभाविक रूप से संसार में अपना उचित स्थान प्राप्त करेगी। इसके लिए किसी प्रचार या मिशनरी–प्रयास की आवश्यकता नहीं है। उनके अनुसार इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ भारतीय संस्कृति की प्रकृति में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



कभी नहीं रही हैं। भारत में पारंपरिक रूप से गुरु शिष्य के पास नहीं जाता, बल्कि शिष्य स्वयं गुरु की खोज करता है। यद्यपि आधुनिक भारतीय शिक्षा प्रणाली, जो विश्वविद्यालय मॉडल से प्रभावित है, ने इस परंपरा को व्यावहारिक कारणों से उलट दिया है, फिर भी पारंपरिक भावना आज भी महत्त्वपूर्ण है।

विवेकानंद–और बाद में राधाकृष्णन –का दृष्टिकोण इससे स्पष्ट रूप से भिन्न है। वे एक भविष्यवाणी करने वाले और मिशनरी स्वर अपनाते हैं, जिनका उद्देश्य विशेषकर पश्चिमी विश्व को यह विश्वास दिलाना है कि भारतीय संस्कृति में कुछ अद्वितीय है– विशेषरूप से उसकी आध्यात्मिकता और रहस्यवाद। मुखोपाध्याय के अनुसार, यह प्रवृत्ति राष्ट्रवाद की अखंडता को कमजोर करती है, क्योंकि यह संस्कृति के सबसे पवित्र तत्त्वों में से एक को एक ऐसे उत्पाद में बदल देती है, जिसे बेचा या प्रचारित किया जा सके (Carrette & King, 2005)। फिर भी, मुखोपाध्याय विवेकानंद के योगदानों को पूरी तरह नकारते नहीं हैं।

वे स्वीकार करते हैं कि विवेकानंद को वेदों और उपनिषदों को लोक प्रिय बनाने का श्रेय अवश्य दिया जाना चाहिए। इस कारण, उनकी सांस्कृतिक अविश्वसनीयता को कुछ हद तक क्षमा किया जा सकता है– क्योंकि अंततः इसका परिणाम यह हुआ कि इन ग्रंथों को जनचेतना में जीवित रखा गया, उन्हें व्यापक पाठक वर्ग के लिए सुलभ बनाया गया, और भावी पीढ़ियों के पाठकों और विचारकों के लिए उनकी प्रासंगिकता सुनिश्चित की गई।.

आचार्य मुखोपाध्याय का दृष्टिकोण हमें यह सोचने पर विवश करता है : क्या विवेकानंद जैसे सार्वजनिक व्यक्तित्वों को केवल उनके ग्रंथों, भाषणों और सामाजिक–राजनीतिक आंदोलनों के आधार पर ही समझा जा सकता है, या हमें उनके व्यापक सांस्कृतिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक प्रभावों की भी समालोचनात्मक जाँच करनी चाहिए? उनका आग्रह है कि राष्ट्रवाद– विशेषकर भारतीय राष्ट्रवाद– सिर्फ नारों या पारलौकिक उद्घोषणाओं पर आधारित नहीं हो सकता। यह तभी सार्थक हो सकता है जब वह जीवित परिवर्तन, द्वंद्वात्मक संवाद और गहरी सांस्कृतिक स्मृति में निहित हो। इसके लिए व्यक्ति को भीतर से 'भारतीय' होना आवश्यक है– सिर्फ जातीय या भौगोलिक अर्थों में नहीं, बल्कि बौद्धिक और नैतिक स्तर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



पर भारतीय परंपरा की आत्मा को जीने के अर्थ में। इस दृष्टिकोण से आचार्य मुखोपाध्याय की अंतर्दृष्टि का अनुसरण करते हुए हम पुनः उस बिंदु पर लौटते हैं जो पहले निहित था कि विवेकानंद की महानता और लोकप्रियता के बावजूद उन्हें एक अंतरराष्ट्रीयतावादी या सांस्कृतिक राजदूत के रूप में बेहतर समझा जा सकता है, न कि भारतीय दार्शनिक अर्थों में एक सच्चे राष्ट्रवादी के रूप में। यह विवेकानंद के योगदानों का निषेध नहीं है– विशेषकर भारतीय चिंतन को वैश्विक स्तर पर प्रतिष्ठित करने और सुधारकों व साधकों की एक पीढ़ी को प्रेरित करने में उनकी भूमिका का। किंतु आचार्य मुखोपाध्याय हमें प्रभाव और गहराई, आकर्षण और आलोचनात्मकता के बीच भेद करने की आवश्यकता की याद दिलाते हैं। ऐसा करते हुए वे हमें एक गंभीर किंतु आवश्यक स्मरण कराते हैं कि भारतीय आधुनिकता की परियोजना केवल आध्यात्मिक उत्साह पर नहीं टिक सकती। उसे दार्शनिक स्पष्टता, विश्लेषणात्मक कठोरता, और सभ्यतागत आत्म–जागरूकता पर आधारित होना चाहिए। वे गुण जो केवल विरासत में नही मिलते, बल्कि निरंतर साधना और विवेक से विकसित किए जाने चाहिए।

आचार्य मुखोपाध्याय विवेकानंद द्वारा स्वयं को अपने गुरु, रामकृष्ण के विपरीत ढंग से प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति की भी गंभीर आलोचना करते हैं। उनके अनुसार, इस अंतर के माध्यम से भारतीय संस्कृति के दो भिन्न अवतार प्रतीकात्मक रूप में उभरते हैं। एक ऐसा अवतार जो आत्म निवर्तन और अंतर्मुखी विनम्रता पर आधारित है, और दूसरा जो आकर्षक आत्म–प्रदर्शन पर केन्द्रित है। रामकृष्ण ने एक गहन चिंतन के क्षण में कहा था कि एक महान व्यक्ति दीवार में बने छेद के समान होता है। एक ऐसी खिड़की, जिसके माध्यम से हम संस्कृति और आध्यात्मिक सत्य की व्यापकता का अनुभव करते हैं, न कि केवल उस व्यक्ति पर ध्यान केंद्रित करते हैं। इस दृष्टि में महानता का वास्तविक अर्थ आत्म–प्रक्षेपण में नहीं, बल्कि स्वयं से परे किसी उच्च्व सत्य का पारदर्शी माध्यम बनने में निहित है। आचार्य मुखोपाध्याय के अनुसार विवेकानंद इस आदर्श से स्पष्ट रूप से भिन्न हो जाते हैं। वे स्वयं को परंपरा की पृष्ठभूमि में विलीन करने के बजाय केंद्र में रखते हैं। अपने व्यक्तित्व की एक विशिष्ट छवि गढ़ते हैं, संन्यासी की भूमिका का अभिनय करते हैं और जानबूझकर एक सार्वजनिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं जो ध्यान आकर्षित करता है। उनका यह जोर दृश्यता, प्रभाव और भाषण–कौशल पर अधिक है, जो आधुनिक करिश्मा और प्रतीकात्मक कूटनीति के तर्क से अधिक मेल खाता है, न कि किसी पारंपरिक गुरु या ऋषि की निःशब्द तपस्या से। वे स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं : रामकृष्ण का उद्देश्य यह था कि महान गुरु या व्यक्ति आपकी दृष्टि को बाँध न दे, बल्कि उसे अपने आर–पार जाने दे और कुछ अधिक व्यापक दृष्टि'' प्राप्त करने की संभावना को उद्घाटित करे। रामकृष्ण स्वयं को प्रदर्शित करना नहीं चाहते थे ; वे चाहते थे कि उनसे मिलने आए व्यक्ति को किसी अधिक व्यापक सत्य का दर्शन हो, जो उनके स्वयं से परे हो। यह प्रक्रिया दो तरह से प्रकट होती थी। पहला तरीका था स्वयं बोलने का, जिससे लोगों की दृष्टि को इस प्रकार बाँधना कि वे किसी अधिक समृद्ध, अधिक स्थिर और अधिक व्यापक वास्तविकता को न देख सकें। मुझे यह तरीका आधुनिक मानसिकता का एक लक्षण प्रतीत होता है।

आधुनिकता को दो तत्त्वों ने प्रभावित किया है। पहला, व्यक्तिवाद (Individualism) और दूसरा मौलिकता। अधिकांशतः मौलिकता का यह दावा अज्ञान मूलक होता है। मेरी अधिकांश मौलिकता का अर्थ केवल इतना है कि मैं यह नहीं जानता कि मेरी मौलिक बात कोई और पहले ही कह चुका है। (मुखोपाध्याय,2025,च.19).

द्रष्टव्य है कि यह आलोचना हालिया शोध में सुव्यवस्थित रूप से स्थापित हो चुकी है। उदाहरण के लिए, ज्योतिरमय शर्मा ने स्वामी विवेकानंद पर अपने कार्यों में यह तर्क दिया है कि विवेकानंद हिन्दू सर्वोच्चतावादी थे और हिंदुत्व के एक मूलभूत वैचारिक प्रवर्तक थे (Sharma, 2013, 2013इ)। उनके अनुसार, विवेकानंद को यद्यपि धार्मिक सहिष्णुता के उदार प्रवचनकर्ता के रूप में व्यापक रूप से जाना जाता है। वास्तव में वे हिंदू धर्म, विशेष रूप से अद्वैत वेदांत, को सभी अन्य धर्मों से श्रेष्ठ मानते थे। शर्मा का कहना है कि विवेकानंद की जो उदारता दिखाई देती है, वह वस्तुतः एक आवरण थी; वास्तविकता में वे गैर–हिंदू धर्मों को हीन समझते थे, उन्हें ऐसे संप्रदाय मानते थे जिनके ईश्वर–संबंधी विचार अपरिपक्व और निम्न स्तर के थे। शर्मा के अनुसार, यह दृष्टिकोण विवेकानंद को उनके गुरु श्री रामकृष्ण की अधिक उदार, समतावादी और सर्वधर्म–सामंजस्यकारी शिक्षाओं से स्पष्ट रूप से अलग करता है। इस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



प्रकार, वे गुरु और शिष्य के बीच एक महत्त्वपूर्ण "विच्छेद" की बात करते हैं, यह दावा करते हुए कि विवेकानंद ने लगातार रामकृष्ण के आध्यात्मिक अनुभवों को भ्रम या मृगतृष्णा के रूप में देखा और उन्हें ईश्वरीय अवतार के रूप में स्वीकार करने से इंकार किया। इस प्रकार उनका व्यक्तिगत संशयवाद अन्य भक्त अनुयायियों की श्रद्धा और भक्ति के विपरीत था। आचार्य मुखोपाध्याय तो यहाँ तक कहते हैं–

हमारी समस्या यह है कि हम रामकृष्ण को विवेकानन्द के माध्यम से जानने का प्रयास करते हैं। इस कारण हमारी धारणाएँ विकृत हो जाती हैं। विवेकानन्द रामकृष्ण के नैसर्गिक उत्तराधिकारी के रूप में बने नहीं थे। उन्होंने अपना कार्य–व्यापार अपने गुरु को नकारकर ही शुरू किया था। मेरे पास इसके कुछ प्रमाण हैं। भारतीय संस्कृति में स्वयं को अदृश्य रखना एक बड़ा मूल्य है, जबकि पश्चिमी संस्कृति में इसके ठीक विपरीत स्वयं को बढ़ा–चढ़ाकर प्रस्तुत करना मुख्य प्रवृत्ति है। यही इन दोनों संस्कृतियों का मूलभूत अंतर है। (मुखोपाध्याय,2025,पृ.18).

आचार्य मुखोपाध्याय के लिए ऐसा प्रदर्शनात्मक राष्ट्रवाद (performative nationalism) अंततः आध्यात्मिक दिखावे (spiritual showmanship) में परिवर्तित होने का जोखिम उठाता है। जहाँ संदेश स्वयं संदेशवाहक की चमक के नीचे दब जाता है। यही वह बिंदु है जहाँ वे एक दार्शनिक और सांस्कृतिक चूक देखते हैं। विवेकानंद के सार्वजनिक व्यक्तित्व में आत्म निवर्तन (self & effacement) का अभाव, जब रामकृष्ण या गांधी जैसे व्यक्तित्वों के साथ तुलना की जाती है, तो आचार्य मुखोपाध्याय के लिए यह एक ऐसे विचलन का संकेत देता है जो आत्मनिष्ठ भारतीय आत्म मंथन की अपेक्षा अंतरराष्ट्रीय प्रदर्शन की दिशा में जाता है। उनके अनुसार, एक सच्चा राष्ट्रवादी वह नहीं होता जो केवल भारतीय परंपरा को वैश्विक मंच पर पुनः प्रस्तुत करे, बल्कि वह होता है जो उस परंपरा से भीतर से जूझता है। उसके साथ द्वंद्वात्मक, नैतिक और ऐतिहासिक संवाद करता है। इसी ढाँचे में, रामकृष्ण, आचार्य मुखोपाध्याय के लिए उस व्यक्ति का आदर्श बनते हैं जिसे वे सभ्यतागत रूप से अंतर्निहित आत्मा (civilizationally embedded self) कहते हैं। ऐसे गुरु जो स्वयं पर ध्यान आकर्षित करने से इंकार करते हैं और इसके बजाय दूसरों को अपने माध्यम से सत्य की झलक पाने में सक्षम बनाते हैं। इसके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


विपरीत, विवेकानंद अधिक सांस्कृतिक राजदूत (cultural ambassador) के रूप में दिखाई देते हैं। जिनकी प्रसिद्धि और दृश्यता ने यद्यपि जन–गौरव को जाग्रत किया, परंतु वे उस गहरी दार्शनिक आत्ममंथन की कसौटी पर पूरी तरह खरे नहीं उतरते, जो भारतीयता (bhāratīyatā) को एक आंतरिक और जीवित अनुभव के रूप में जीने की मांग करती है।

भारत की अध्यात्म प्रधान सभ्यता के रूप में जो छवि 1893 के शिकागो भाषण के बाद उभरी, उसे भी आचार्य मुखोपाध्याय संशय की दृष्टि से देखते हैं। उनका तर्क है कि इस प्रकार की आध्यात्मिक ब्रांडिंग, यद्यपि पश्चिम में प्रशंसा अर्जित करने में सफल रही, परंतु उसने भारतीय सभ्यता की गहराई को सपाट और सीमित कर दिया। तार्किक विचार, ज्ञानमीमांसा की अनुशासन परक परंपरा, और भौतिक विज्ञान–संबंधी चिंतन को हाशिए पर डालते हुए। परिणामस्वरूप, विश्व को भारत की एक आकर्षक परंतु अधूरी छवि मिली, जिसने एक संकुचित और अपूर्ण समझ को स्थायी बना दिया। आचार्य मुखोपाध्याय मृदु वेदान्त (soft Vedānta) की परिवर्तनकारी शक्ति को लेकर भी सशंकित हैं। वे प्रश्न उठाते हैं। यदि "सभी प्राणी एक हैं" जैसी उद्घोषणाएँ वास्तव में नैतिक रूप से प्रभावशाली हैं, तो विवेकानंद और यहाँ तक कि गांधी के बाद भी हिंसा, जातिवाद और धार्मिक संघर्ष क्यों बने हुए हैं? समस्या, उनके अनुसार, यह है कि ऐसे सार्वभौमिक दावे जब ठोस नैतिक और सामाजिक आचरण में न जमे हों, तो वे केवल रिक्त घोषणाएँ बनकर रह जाते हैं। वे चुनौती देने के बजाय सांत्वना देते हैं, और न तो संस्थागत सुधार की मांग करते हैं, न ही व्यक्तिगत संघर्ष की। ऐसा आध्यात्मिकवाद, यद्यपि भावनात्मक रूप से सुकून देने वाला है, परंतु वास्तविक परिवर्तन (चाहे व्यक्तिगत हो या सामूहिक) के लिए बहुत कम योगदान देता है।

अंततः, जब आचार्य मुखोपाध्याय की आलोचना हमें यह स्मरण कराती है कि राष्ट्रवाद को केवल आध्यात्मिक नारों या सांस्कृतिक अतीत–स्मृति तक सीमित नहीं किया जा सकता, बल्कि यह एक कठोर आत्म–समीक्षा का अभ्यास होना चाहिए, ताकि जो किसी सभ्यता की नैतिक, ज्ञानमीमांसात्मक और संस्थागत नींवों की पड़ताल की जा सके। सबसे बढ़कर, राष्ट्रवाद का उद्देश्य जीवन को समग्र रूप से समृद्ध करना होना चाहिए – तर्कसंगत, नैतिक और सौंदर्यात्मक सभी स्तरों पर। अन्यथा, प्रश्न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



उठता है : राष्ट्रवाद और उसके बार–बार किए जाने वाले आवाहनों का वास्तविक मूल्य क्या है? क्या विवेकानंद वास्तव में भारतीय राष्ट्रवाद की भावना को आत्मसात करते थे या नहीं। यह इस बात पर निर्भर करता है कि राष्ट्रवाद को हम कैसे परिभाषित करते हैं। यदि इसका अर्थ आध्यात्मिक नारों और मिशनरी उत्साह के माध्यम से केवल अतीत के सभ्यतागत गौरव का प्रदर्शन है, तो विवेकानंद निश्चय ही सफल रहे। परंतु, यदि राष्ट्रवाद का अर्थ है सतत सामाजिक–राजनीतिक संलग्नता, सांस्कृतिक निष्ठा, अहंकार–रहित पारदर्शिता और आत्मावलोकन, संरचनात्मक आलोचना तथा परिवर्तनकारी आचरण, तो विवेकानन्द विरासत कहीं अधिक दुविधापूर्ण (ambivalent) हो जाती है। जो अंधभक्ति नहीं, बल्कि विचारपूर्ण परीक्षण की अपेक्षा करती है। यह दृष्टिकोण हमें सावधान रहने का बौद्धिक आधार देता है। विशेषकर उन आकांक्षाओं के प्रति जो देखने में पवित्र लगती हैं, परंतु जिनके भीतर साम्राज्यवादी या फैशन–प्रधान प्रवृत्तियाँ छिपी हो सकती हैं।

समग्र रूप से, उपर्युक्त समस्त विवेचन के आलोक में यह चर्चा तीन परस्पर जुड़ी हुई बौद्धिक प्रविष्टियों को सामने लाती है। प्रथम, यह आचार्य प्रद्योत कुमार मुखोपाध्याय–एक ऐसे चिन्तक जिन्होंने स्वयं को प्रायः बौद्धिक निस्तब्धता में रखा – को विमर्श के केंद्र में स्थापित करती है। "मृदु आध्यात्मिकता" (soft spiritualism) की उनकी संयमित परंतु तीक्ष्ण आलोचना के माध्यम से हम एक स्वदेशी और आलोचनात्मक स्वर को पुनः प्राप्त करते हैं,जो विवेकानन्द के अनुयायियों द्वारा लम्बे समय से अधिपत्य किए गए उत्सववादी आख्यान को जटिल बनाता है। यह पुनर्स्मरण केवल इतिहास–रुचि या प्राच्य – संग्रह नहीं है, बल्कि यह हमें भुला दिए गए विश्लेषणात्मक औजारों से पुनः सुसज्जित करता है और यह भी दर्शाता है कि विवेकानन्द की सबसे गहन प्रति–पाठ (counter & reading) उसी सभ्यतागत अभिलेखागार से आती है, जिसे वे पुनर्जीवित करने का दावा करते थे। द्वितीय, यह विवेकानन्द की "भारत के आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के निर्विवाद पैगंबर" के रूप में स्थापित छवि का एक व्यवस्थित विखंडन (deconstruction) प्रस्तुत करती है। यह प्रयास न केवल अमर्त्यसेन के "rgumentative Indian" की धारणा को उसकी मूलभूमि पर परखता है, जहाँ प्रतीकों और महापुरुषों को भी उतनी ही आलोचनात्मक दृष्टि से देखा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


जाना चाहिए जितनी कि शास्त्रों को– बल्कि यह सेन और मुखोपाध्याय के सांस्कृतिक मौलिकतावाद (cultural essentialism) पर अलग–अलग किंतु अभिसारी आलोचनाओं के मध्य एक संवाद भी स्थापित करता है। एक ऐसे देश में जो अपनी विविध परम्पराओं, बहुस्तरीय संस्कृतियों और भिन्न मतों के कारण अद्वितीय बहुलतावादी है– और जो पश्चिमी धर्मनिरपेक्षता या साम्राज्यवादी उदारवाद की संकीर्ण परिभाषाओं से नहीं, बल्कि अपनी ही विशिष्ट परम्पराओं और भिन्न विश्वासों से संचालित है–ऐसी आलोचनात्मक संलग्नता न केवल आवश्यक है, बल्कि भारतीय दार्शनिक वाद–विवाद की दीर्घजीवी परम्परा के अनुरूप भी है।

अमर्त्य सेन अपनी कृति The Argumentative Indian में भारत की हजारों वर्षों पुरानी तर्कसंगत–परम्पराओं जो हिन्दू, बौद्ध, जैन, इस्लामी, अनीश्वरवादी और नास्तिक चिंतन परंपराओं से पोषित हैं, को भारतीय अस्मिता की बहुलता को समझने और पोषित करने के माध्यम के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे हमें यह स्मरण कराते हैं कि भारत में विवाद या संवाद के लिए प्राचीन और सम्मानित नियम रहे हैं, जो उदारता, सहिष्णुता और बौद्धिक विविधता पर आधारित हैं।

भारत को प्रायः रहस्यवाद और अध्यात्म की भूमि के रूप में देखा जाता है, परन्तु सेन यह रेखांकित करते हैं कि यह संदेहवाद, तर्कशीलता और बौद्धिक विवेक की भी भूमि रही है। यह विवाद–परम्परा किसी एक विचारधारा की नहीं, बल्कि एक ऐसी सार्वजनिक तर्कशीलता (public reason) की है जो परम्परा के भीतर से और उसके बाहर से दोनों प्रकार के प्रश्नों के लिए स्थान प्रदान करती है। जहाँ सेन की आलोचना प्रायः संकीर्ण वैदिक या सांस्कृतिक एकरूपता के विरुद्ध खड़ी होती है, वहीं मुखोपाध्याय वैदिक सभ्यता के भीतर से ही कार्य करते हुए उस लोकप्रिय आध्यात्मिकता का प्रतिरोध करते हैं जो उस विरासत को केवल भावनात्मक रहस्यवाद तक सीमित कर देती है। दोनों चिन्तकों की समानता इस बात में निहित है कि वे यह मानते हैं कि कोई भी परम्परा चाहे वह ग्रंथगत हो, संस्थागत या प्रतीकात्मक हो, तर्कसंगत आलोचना से परे नहीं हो सकती।

इस परिप्रेक्ष्य में, सांस्कृतिक मौलिकतावाद से वाद एक वास्तविक संवादात्मक उपक्रम बन जाती है, जो अपनी शक्ति वैचारिक एकरूपता से नहीं, बल्कि बहुल प्रश्नों और दृष्टियों की विविधता से ग्रहण करती है। यदि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



अमर्त्यसेन का "public reasoning" का मॉडल हमारे विश्लेषण के वैचारिक अभिप्राय से पूर्णतः मेल नहीं खाता, तो भारतीय वाद–परम्परा एक अधिक सुसंगत और दार्शनिक रूप से गूंजती हुई रूपरेखा प्रदान करती है। एक ऐसी रूपरेखा जो भारतीय बौद्धिक विरासत में गहराई से निहित है, और जिससे आचार्य मुखोपाध्याय स्वयं पद्धतिगत और स्वभावगत रूप से परिचित थे। वाद अर्थात् संरचित संवाद, तार्किक विनिमय या युक्तिपूर्ण विवाद भारतीय दार्शनिक परम्परा की एक केन्द्रीय विधि रही है। इसने न केवल परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों के उत्कर्ष को सम्भव बनाया, बल्कि सम्पूर्ण सभ्यता के नैतिक, धार्मिक और सामाजिक–सांस्कृतिक ढाँचे को भी आकार दिया है। आन्वीक्षिकी परम्परा के विस्तार के रूप में, जो ईसापूर्व के प्रारम्भिक शताब्दियों तक जाती है, वाद ने एक ऐसा बौद्धिक पारिस्थितिकी तंत्र (intellectual ecosystem) निर्मित किया जहाँ सत्य तक पहुँचने का मार्ग कठोर असहमति, संवादात्मक खुलापन और तर्क की स्पष्टता से होकर जाता है। जैसा कि राधावल्लभ त्रिपाठी और बी.के. मतीलाल जैसे विद्वानों ने संकेत किया है, लगभग सभी क्षेत्रों के ग्रंथ, क्लासिकल दर्शनों से लेकर आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, कामसूत्र, और यहाँ तक कि रामायण व महाभारत जैसे महाकाव्य, अपने ढाँचे में वाद के तर्कशास्त्रीय स्वरूप को धारण करते हैं (Matilal,1998; Tripathi, 2021)। यह केवल वाद–विवाद की औपचारिक परम्परा नहीं, बल्कि उस सभ्यतागत चेतना का द्योतक है, जिसने मतभेद को ज्ञान और सत्य की राह माना। इन वाद–परम्पराओं में विचार तीक्ष्ण, प्रखर और सत्य की खोज में अनम्य थे। प्रमुख विवाद कर्म और ज्ञान की प्राथमिकता, प्रवृत्ति (संसार–संलग्नता) बनाम निवृत्ति (संन्यास), तथा धर्म के लिए हिंसा की वैधता जैसे मूल प्रश्नों पर केन्द्रित थे। महत्त्वपूर्ण यह है कि ये विवाद केवल सैद्धान्तिक नहीं थे, बल्कि भारतीय समाज, राजनीति और दर्शन के ताने–बाने से गहराई से जुड़े हुए थे।

आधुनिक काल में महात्मा गांधी, जिद्दू कृष्णमूर्ति और विनोबाभावे जैसी विभूतियों ने अपने–अपने ढंग से इस संवादात्मक (dialogical) चेतना को पुनर्जीवित किया। इन विचारकों ने यह दिखाया कि वाद केवल औपचारिक वाद–विवाद की पद्धति नहीं, बल्कि आत्म–परीक्षण, नैतिक रूपांतरण और आध्यात्मिक संवाद का एक माध्यम भी हो सकता है। साथ ही, इस परम्परा ने यह भी सिद्ध किया है कि वह पाश्चात्य वैज्ञानिक और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitized by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


दार्शनिक प्रतिमानों के साथ आलोचनात्मक संवाद करने में पर्याप्त रूप से सक्षम है; बिना किसी सांस्कृतिक अहंकार या दम्भ में पड़े हुए। इस प्रकार, वाद परम्परा का आह्वान केवल सांस्कृतिक पुनरुद्धार (cultural retrieval) का कार्य नहीं, बल्कि एक जीवित बौद्धिक प्रतिमान (living intellectual paradigm) की उद्घोषणा है। यह एक ओर अंध–भक्ति और बिना प्रश्न श्रद्धा के मत को चुनौती देती है, तो दूसरी ओर सांस्कृतिक मौलिकतावाद (cultural essentialism) की समतलकारी प्रवृत्ति को भी। इस अर्थ में, आचार्य मुखोपाध्याय की अंतर्दृष्टियाँ वाद की आधुनिक अभिव्यक्ति के रूप में सामने आती हैं।

अंततः, यह चर्चा एक ऐसी कार्यप्रणालीगत (methodological) समस्या भी उठाती है, जिस पर राष्ट्रवादी अध्ययन में शायद ही कभी विचार किया जाता है : क्या हमें सार्वजनिक व्यक्तित्वों (public figures) का मूल्याँकन केवल उनके ग्रंथों और भाषणों तक सीमित रख देना चाहिए? आचार्य मुखोपाध्याय इस सीमा का अतिक्रमण करते हुए विवेकानन्द की वाणी की आभा (rhetorical flamboyance) को रामकृष्ण की आत्म–निवृत्ति (self & effacement) के सापेक्ष पढ़ते हैं, जिससे वे राष्ट्रीयता, आध्यात्मिकता और ऐतिहासिक "पुनरुत्थान" जैसे विचारों में गहरे सांस्कृतिक रूपांतरणों को रेखांकित करते हैं। उनके इस दृष्टिकोण का अनुसरण करते हुए हम यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि किसी भी प्रतीकात्मक व्यक्तित्व का सम्यक् मूल्याँकन तभी सम्भव है जब हम उसके व्यक्तित्व और दर्शन, उद्देश्य और प्रभाव के बीच के विभेदों (disjunctions) को समझें। ऐसा करने से यह विमर्श विद्वानों को यह सोचने के लिए आमंत्रित करता है कि किस प्रकार व्यक्ति, विचार और उनकी सार्वजनिक स्मृति परस्पर एक–दूसरे को निरंतर पुनर्निर्मित करते रहते हैं, और विस्तारतः, "राष्ट्र" और "संस्कृति" जैसी अवधारणाओं को भी नया रूप देते रहते हैं। परंतु निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व, स्वामी विवेकानन्द पर आचार्य मुखोपाध्याय की प्रयोगात्मक आलोचना के प्रति कुछ आलोचनात्मक प्रश्न उठाए जा सकते हैं। ऐसा ही एक प्रश्न काल वादियों (Kālavaidins) से आता है, जो यह मानते हैं कि प्रत्येक काल (युग या युगधर्म) का अपना आन्तरिक तर्क और अपने विशिष्ट पुरुषार्थों (मानव प्रयोजनों) की अनुक्रमणिका होती है। यदि हम कलियुग में जी रहे हैं, तो क्या इस युग का मूल्याँकन किसी पूर्वयुग

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


जैसे सत्ययुग या त्रेतायुग के आदर्शों या मानकों से किया जाना उचित होगा? क्या यह दार्शनिक रूप से न्यायसंगत है, या ऐतिहासिक रूप से सुसंगत भी कि हम उन तपस्वी आदर्शों और ज्ञानात्मक शर्तों (epistemic conditions) को वर्तमान युग पर आरोपित करें, जो अपनी संरचना, स्वभाव और आध्यात्मिक सामर्थ्य में इससे सर्वथा भिन्न हैं?

यह कालगत आत्म–संगति (temporal self & consistency), अर्थात् यह विचार कि प्रत्येक युग का मूल्याँकन उसी तर्क से किया जाना चाहिए जो वह स्वयं उत्पन्न करता है। आचार्य मुखोपाध्याय के दृष्टिकोण में अपेक्षाकृत उपेक्षित प्रतीत होती है। उनका विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण, यद्यपि अत्यंत प्रखर और नवीन है, किंतु कभी–कभी वह विवेकानन्द के विचारों पर एक अतीतगामी (transhistorical) रूपरेखा आरोपित करता है, बिना यह पर्याप्त रूप से विचार किए कि विवेकानन्द का "शक्ति", "गति" और "संसार–संलग्नता" (worldly engagement) पर बल देना स्वयं कलियुग की प्रकृति के प्रति एक सजग उत्तर हो सकता है।

इस दृष्टि से कालवादी आपत्ति मुखोपाध्याय की अन्यथा गहन समीक्षा में एक संभाव्यरिक्ति (lacuna) की ओर संकेत करती है, अर्थात् उस ऐतिहासिक–धार्मिक संदर्भवाद (historical & dharmic contextualism) की अनुपस्थिति की, जो प्रत्येक काल की सांस्कृतिक माँगों की परिस्थिति जन्य उपयुक्तता को मान्यता देता है। यह दृष्टिकोण इस तथ्य को भी समाहित करने में असफल रहता है कि प्रचार स्वयं आधुनिकता की एक अनिवार्य आवश्यकता है; अन्यथा भारत को ऋषि–परंपरा के देश से सपेरों के देश के रूप में रूपांतरित किए जाने में अधिक समय न लगता और ऐसा हम ऐतिहासिक रूप से देख भी चुके हैं, जब विलियम आर्चर जैसे लोगों ने भारत की छवि को इसी प्रकार एकांगी और विकृत ढंग से प्रचारित किया।

आचार्य मुखोपाध्याय के दृष्टिकोण की एक अन्य महत्त्वपूर्ण आलोचना स्वामी विवेकानन्द के समकालीन व्याख्याताओं और प्रशंसकों जैसे अरिंदम चक्रवर्ती और स्वामी मेधानंद की ओर से आती है, जो उस सीमित रूपरेखा को चुनौती देते हैं, जिसमें आचार्य मुखोपाध्याय जैसे विचारक विवेकानन्द के चिंतन को सीमित कर देते हैं। उदाहरणार्थ, अरिंदम चक्रवर्ती विवेकानन्द की उस विशिष्ट क्षमता की सराहना करते हैं, जिसके माध्यम से उन्होंने व्यावहारिक और पारमार्थिक अस्तित्व–स्तरों के मध्य एक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


सजीव सेतु स्थापित किया। केवल अमूर्त तात्त्विक चिंतन के माध्यम से नहीं, बल्कि मित्रता, प्रेम और करुणा जैसे सद्‌गुणों के अभ्यास द्वारा (Chakrabarti, 2025)। विवेकानन्द के लिए ये नैतिक आयाम केवल मुक्ति के सहायक साधन नहीं थे, बल्कि वे स्वयं मुक्ति की प्राप्ति के अभिन्न अंग थे। चक्रवर्ती विवेकानन्द के वेदांत–दर्शन में प्रेम के तात्त्विक और नैतिक आधारों का विश्लेषण करते हैं। वे यह रेखांकित करते हैं कि विवेकानन्द के लिए प्रेम केवल भावना या संवेदनात्मक आवेग नहीं, बल्कि एक अस्तित्वगत शक्ति है, जो समस्त प्राणियों की एकता का आधार बनती है। इस रूपरेखा में प्रेम, प्रेमी और प्रिय, आत्मा और परात्मा जैसी द्वैतात्मक विभाजनों को लांघ जाता है और अस्तित्व की अद्वैत एकता की अनुभूति के रूप में प्रकट होता है। चक्रवर्ती यह स्पष्ट करते हैं कि विवेकानन्द के दृष्टिकोण में प्रेम साधन भी है और साध्य भी। दूसरे से प्रेम करना, उस व्यक्ति में स्थित दिव्यता की सहज पहचान बन जाता है, जो उपनिषदों की इस उक्ति के समान है कि "सर्वभूतेषु आत्मानंपश्यति।"

विवेकानन्द की यह दृष्टि भक्ति परंपरा और अद्वैत वेदान्त दोनों से गहराई से प्रभावित है, जिसके परिणामस्वरूप एक ऐसी अद्वितीय संश्लेषणात्मक दृष्टि बनती है, जिसमें प्रेम अद्वैत–बोध में आधारित है, परन्तु संसार के प्रति सक्रिय भागीदारी के रूप में व्यक्त होता है। इस एकीकरण ने विवेकानन्द के वेदान्त को चिंतनशील (contemplative) होने के साथ–साथ कर्मशील (activist) भी बना दिया, जहाँ दूसरों से प्रेम और सेवा स्वयं में आत्म–साक्षात्कार का मार्ग बन जाता है। चक्रवर्ती के अनुसार विवेकानन्द के लिए प्रेम केवल नैतिक दायित्व नहीं, बल्कि मुक्ति का साक्षात् मार्ग है। मोक्ष संसार–त्याग से नहीं, बल्कि सार्वभौमिक प्रेम, करुणा और मानव–सेवा से प्राप्त होता है (Chakrabarti, 2021, August 4)। इसी प्रकार, स्वामी मेधानंद अपनी कृति Swami Vivekananda's Vedāntic Cosmopolitanism (2022) में उस प्रवृत्ति की आलोचना करते हैं, जिसमें विवेकानन्द को या तो केवल शंकर के अद्वैत वेदान्त का पुनरुद्धारक माना जाता है, या फिर पश्चिमी आधुनिकता से प्रभावित "नववेदान्ती" कहकर खारिज कर दिया जाता है। मेधानंद के अनुसार विवेकानन्द को न तो इस तरह संकीर्ण ऐतिहासिक या संप्रदाय गत ढाँचों में बाँधा जा सकता है, न ही केवल सांस्कृतिक प्रतिक्रियावाद के रूप में पढ़ा जा सकता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



इसके विपरीत, वे उन्हें एक विश्व नागरिक वेदान्ती (cosmopolitan Vedantin) के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिन्होंने भारतीय और पाश्चात्य दोनों दार्शनिक प्रतिमानों के साथ सृजनात्मक संवाद किया। अपने गुरु श्री रामकृष्ण से प्रेरित होकर विवेकानन्द ने अद्वैत को संन्यासी–वैराग्य के रूप में नहीं, बल्कि निरपेक्ष, जीवन–सम्मत दर्शन के रूप में पुनर्परिभाषित किया, जो सेवा, पार–सांस्कृतिक संवाद, और समन्वयात्मक धार्मिक बहुलता की नैतिकता पर आधारित था। उन्होंने प्रत्यक्षानुभव (supersensuous perception) की ज्ञानमीमांसक वैधता का समर्थन किया, अपने समय के बढ़ते वैज्ञानिकतावाद की आलोचना की, और चेतना की प्रकृति तथा तर्क की सीमाओं जैसे गहन प्रश्नों से काव्यात्मक एवं संवादात्मक शैली में जूझे। इस परिप्रेक्ष्य में, मुखोपाध्याय का विश्लेषण कुछ संकीर्ण और दार्शनिक रूप से अपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि वह विवेकानन्द के चिंतन की बहुआयामी, संवादात्मक और जीवित परंपरागत (lived) आयामों का समुचित लेखा नहीं लेता। एक कठोर वैदिक– केन्द्रित संस्कृति और दर्शन की परिभाषा को प्राथमिकता देकर, मुखोपाध्याय अनजाने में उस बहुलता और प्रयोगशीलता की उपेक्षा कर देते हैं जो स्वयं भारतीय बौद्धिक परंपराओं का जीवन–स्रोत रही है, और जिसे विवेकानन्द ने पुनर्जीवित करने का प्रयास किया, न केवल भारत के भीतर बल्कि वैश्विक स्तर पर भी।

इन विरोधी और समर्थक दृष्टिकोणों के बीच चल रहे इस द्वंद्वात्मक संवाद (dialectic) के आलोक में एक और सूक्ष्म प्रश्न उभरता है। यदि जैसा कि आचार्य मुखोपाध्याय का तर्क है, विवेकानन्द मूलतः एक अंतरराष्ट्रीयतावादी (internationalist) हैं, तो क्या इसमें राष्ट्रवाद (nationalism) पहले से ही एक अधीन या स्थानीयकृत श्रेणी के रूप में अंतर्निहित नहीं है? अर्थात्, यदि अंतरराष्ट्रीयता का अर्थ एक ऐसी सांस्कृतिक रूप से जड़ित और दार्शनिक रूप से सजग मानवतावादी भावना है जो सीमाओं से परे जाकर समस्त मानवता की चिंता करती है, तो राष्ट्रवाद, जो अपने राष्ट्र के प्रति नैतिक और राजनीतिक प्रतिबद्धता है। उसी का प्रारंभिक रूप या नैतिक आधार माना जा सकता है, न कि कोई प्रतिस्पर्धी विचारधारा। इस दृष्टि से, विवेकानन्द का कथित राष्ट्रवाद किसी संकीर्ण देशभक्ति (exclusive patriotism) के रूप में नहीं, बल्कि वैश्विक एकता की उस यात्रा का प्रारंभिक चरण है, जो आत्म–सम्मान और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


सांस्कृतिक आत्म विश्वास पर आधारित है, और जिसका सूत्र वाक्य है—"वसुधैव कुटुम्बकम्" (Medhananda, 2022)। परंतु यह सर्वसमावेशी व्याख्या सर्वत्र स्वीकृत नहीं है।

एक परंपरावादी दृष्टिकोण यह तर्क दे सकता है कि राष्ट्रवाद और अंतरराष्ट्रीयता मूलतः दो भिन्न, यहाँ तक कि परस्पर विरोधी दृष्टिकोण हैं, क्योंकि अंतरराष्ट्रीयता प्रायः ऐसे विचारधारात्मक प्रवाहों और प्रचारो से प्रेरित होती है जो सत्य को धुंधला कर सकते हैं। इस दृष्टि से कोई व्यक्ति एक साथ पूर्ण अंतरराष्ट्रीयतावादी और पूर्णराष्ट्रवादी नहीं हो सकता, बिना दोनों में से किसी एक की मूलभावना से समझौता किए।

अतः प्रश्न खुला रहता है और यह दोनों पक्षों, समर्थकों एवं आलोचकों, को आमंत्रित करता है कि वे अपने दार्शनिक संकल्पों, ऐतिहासिक संवेदनाओं और नैतिक दृष्टियों के आलोक में विवेकानन्द की विरासत पर विचार करें। और इस विषय पर एक औपचारिक बहस भी मौजूद है, जो इस बात के इर्द—गिर्द केंद्रित है कि स्वामी विवेकानंद कैसे एक उत्साही और कभी—कभी ध्रुवीकरण करने वाली चर्चा का विषय बन गए हैं, जो साथ ही आचार्य मुखोपाध्याय की दार्शनिक और सांस्कृतिक पीड़ा को भी समर्थित करती है। एक ओर ऐसे व्यक्ति हैं जैसे ज्योतिर्मय शर्मा, जो विवेकानंद को एक हिंदू श्रेष्ठता के रूप में चित्रित करते हैं—एक विचारक जो, अपने सार्वजनिक रूप में धर्मों के बीच पुल बनाने वाले के रूप में प्रसिद्ध होने के बावजूद, सूक्ष्म रूप से हिंदू धर्म, और विशेषकर अद्वैत वेदांत, को सभी अन्य धर्मों से ऊपर रखते हैं (Sharma, 2013)। शर्मा के अनुसार, विवेकानंद के भाषण और लेखन एक ऐसे दृष्टिकोण का संकेत देते हैं जो सांस्कृतिक श्रेष्ठता से भरा है, जिसमें पश्चिम को भौतिकवादी "असुर" के रूप में और भारत को दुनिया के लिए सही आध्यात्मिक मार्गदर्शक के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

यहाँ तक कि विवेकानंद के विराट आराधना के लिए प्रेरक आह्वान को भी, शर्मा के अनुसार, हिंदू जनता के विशेष दृष्टिकोण तक सीमित कर दिया गया है, न कि सार्वभौमिक मानवता के लिए।

शर्मा कहते हैं कि विवेकानंद की सामाजिक दृष्टि जाति के प्रति गहरी रूढ़िवादी थी। जहाँ अन्य सुधारक जन्मजात पदानुक्रम को समाप्त करने का प्रयास करते थे, शर्मा के अनुसार, विवेकानंद केवल किनारों पर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



बदलाव कर रहे थे, ब्राह्मणों के प्रभुत्व को बनाए रखते हुए और यह जोर देते हुए कि वर्ण भेद स्वाभाविक और स्थिर हैं। उनके दृष्टिकोण में एक शूद्रक भी वास्तव में ब्राह्मण नहीं बन सकता। और शायद सबसे उत्तेजक दावे में, शर्मा मुखोपाध्याय की तरह विवेकानंद को उनके गुरु रामकृष्ण की आध्यात्मिक बहुलता से दूर होते हुए भी चित्रित करते हैं।

जहाँ रामकृष्ण सभी मार्गों को अपनाते थे और विभिन्न परंपराओं के माध्यम से दिव्य का अनुभव करते थे, वहीं विवेकानंद कथित रूप से कठोर अद्वैतिक पदानुक्रम लागू करते थे, अपने गुरु के दृष्टांतों को भ्रम मानते थे, और उन्हें अवतार के रूप में पूर्णरूप से मान्यता नहीं देते थे। शर्मा के दृष्टिकोण में, उनकी दार्शनिकताएँ केवल भिन्न नहीं थीं, बल्कि मौलिक रूप से असंगत थीं; रामकृष्ण का उत्साही, भक्तिपूर्ण तांत्रिक दृष्टिकोण विवेकानंद के तर्कसंगत और व्यावहारिक अद्वैत के मुकाबले।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, स्वामी मेधानंद इस चित्रण को अधूरा और विकृत मानते हैं, जो अप्रत्यक्ष रूप से मुखोपाध्याय को भी संबोधित करता है, और इसलिए इसे संक्षेप में प्रस्तुत करना उपयोगी है। अपने विस्तृत उत्तर में वह शर्मा पर विवेकानंद के शब्दों को उनके संदर्भ से अलग करने और औपनिवेशिक भारत के दबावों को नजर अंदाज करने का आरोप लगाते हैं। एक ऐसा समय जब हिंदू नेता आक्रामक ईसाई मिशनरी गतिविधियों और गहरी जड़ें जमा चुकी ब्रिटिश रूढ़ियों का सामना कर रहे थे (Medhananda, 2020)।

मेधानंद विवेकानंद को सर्वोच्चतावादी के रूप में नहीं, बल्कि एक "कॉस्मोपॉलिटन देशभक्त" के रूप में चित्रित करते हैं, जो पूरब और पश्चिम दोनों की आलोचना और प्रशंसा कर सकते थे। हाँ, विवेकानंद ने पश्चिमी भौतिकवाद को चुनौती दी, लेकिन उन्होंने इसके विज्ञान, शिक्षा और सामाजिक सुधार में प्रगति का भी स्वागत किया और खुले तौर पर भारतीयों से कहा कि "सभी देशों से सीखें।" मेधानंद जोर देते हैं कि उनका हिंदू धर्म जातीय या नस्लीय नहीं, बल्कि सैद्धांतिक था; एक ऐसा विश्वास जो गैर–भारतीयों, जैसे सिस्टर निवेदिता, को भी अपनाने में सक्षम था।

जाति के मामले में भी, मेधानंद के अनुसार, विवेकानंद एक सुधारक थे, मात्र प्रतिक्रियावादी नहीं। व्यवहार में उन्होंने पश्चिमी शिष्यों को ब्राह्मणत्व में दीक्षित किया, यह दर्शाते हुए कि आध्यात्मिक स्थिति जन्मगत सीमाओं को पार कर सकती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


रामकृष्ण के साथ कथित दरार भी गहन निरीक्षण में घुल जाती है। मेधानंद तर्क करते हैं कि विवेकानंद ने कभी अपने गुरु की मूल दृष्टि को नहीं छोड़ा, बल्कि इसे "विज्ञानवेदांत" के माध्यम से पुनः प्रस्तुत किया, जो भगवान के व्यक्तिगत और अप्रत्यक्ष पहलुओं दोनों को स्वीकार करता था। 1890 के दशक के मध्य तक विवेकानंद ने चार योगों–भक्ति, ज्ञान, कर्म, और राज का बहुलतावादी ढाँचा तैयार किया, जो किसी भी धार्मिक परंपरा के बावजूद मोक्ष का वैध मार्ग प्रदान करते थे।

शुरुआती शिष्यत्व में उन्होंने रामकृष्ण के दृष्टांतों की शाब्दिक सच्चाई पर प्रश्न उठाया, लेकिन 1884 के एक परिवर्तनकारी अनुभव ने उनके दृष्टिकोण को बदल दिया, जिससे उन्होंने रामकृष्ण को सबसे महान अवतारों में श्रेष्ठ मान लिया, यहाँ तक कि कृष्ण और बुद्ध से भी ऊपर। मेधानंद के अनुसार मुद्दे की जड़ कार्य विधि में है। वह शर्मा पर संदर्भ विहीनता, ऐतिहासिक भूल और कालानुक्रमिक अंधत्व का आरोप लगाते हैं। यह न देख पाना कि कैसे विवेकानंद का विचार 1890 के दशक की शुरुआत में पदानुक्रमिक समावेशिता से दशक के अंत तक मजबूत बहुलता में विकसित हुआ। इस सूक्ष्मता के बिना शर्मा का तर्क एक जटिल और विकसित होते विचारक को स्थिर कारिकेचर में बदलने का जोखिम उठाता है। यह भी कि उपर्युक्त सभी तर्क आचार्य मुखोपाध्याय की दृष्टि पर भी सटीक रूप से लागू होते हैं।

इस प्रकार, यह बहस निरंतर जारी रहती है तथा आगे गहन विचार–विमर्श के लिए आमंत्रित करती है। एक दृष्टिकोण वह है जो विवेकानंद को हिंदू राष्ट्रवाद और राजनीतिक प्रचारिता के प्रवर्तक के रूप में देखता है, जबकि दूसरा दृष्टिकोण उन्हें एक सार्वभौमिक देशभक्त तथा आध्यात्मिक पुरुष के रूप में प्रस्तुत करता है। इसी तनाव के भीतर आधुनिक हिंदू चिंतन की विवादास्पद विरासत के संदर्भ में एक गहन समझ निहित है, जो इस ओर संकेत करती है कि जब हम यह प्रश्न उठाते हैं कि विवेकानंद के आह्वान को क्या हम सांस्कृतिक श्रेष्ठता के घोषणा पत्र के रूप में समझें या आध्यात्मिक कॉसमोपॉलिटनिज्म के निमंत्रण के रूप में, तो उसका उत्तर काफी हद तक इस पर निर्भर करता है कि हम उन्हें किस प्रकार सुनते और व्याख्यायित करते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



इस संदर्भ में मेधानंद की प्रतिक्रियाएँ भी आचार्य मुखोपाध्याय के विमर्श के साथ प्रासंगिक ठहर सकती हैं,क्योंकि वे इस बहस को खुला बनाए रखती हैं और विवेकानंद के प्रति कठोर या अंतिम निर्णयात्मक दृष्टि को स्थगित करती हैं। अंततः यह स्वीकार करना स्वाभाविक है कि हम विवेकानंद के प्रति गहन प्रशंसा रखते हैं। उनके शब्दों, ऊर्जा और दृष्टि ने अनेक पीढ़ियों को प्रभावित किया है, और उन्हें एक आदर्श के रूप में देखना लगभग सहज प्रतीत होता है। किंतु ऐसा करते समय हम प्रायः उन्हें उनके ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भ में स्थापित करने से चूक जाते हैं। ठीक वैसे ही, जैसे अक्सर गांधी के साथ भी होता है। गांधी के जीवन और विचारों पर लगातार पुनर्विचार, प्रश्नोन्मुख आलोचना और पुनः व्याख्या होती रही है। कभी श्रद्धा के साथ, कभी आलोचनात्मक दृष्टि से, जिससे उन्हें उनके समय से निर्मित एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में समझा जा सका है, न कि एक अछूत या अकेंद्रीय प्रतीक के रूप में।

विवेकानंद के मामले में ऐसा संतुलित दृष्टिकोण अपेक्षाकृत दुर्लभ है। उनका सार्वजनिक व्यक्तित्व इतना पूजनीय हो चुका है कि गंभीर आलोचना या संदर्भगत चिंतन प्रायः असंगत या असुविधाजनक प्रतीत होता है। उनके सामाजिक और राजनीतिक प्रभावों, आधुनिकता के साथ उनके जटिल संबंधों, तथा उनके विचारों में अंतर्निहित तनावों पर शायद ही कोई व्यापक बहस होती दिखाई देती है। इसका आशय उनके महानत्व को कम करके आंकना नहीं है; बल्कि यह स्वीकार करना है कि वास्तविक बौद्धिक समझ के लिए भक्ति के साथ–साथ आलोचनात्मक दूरी भी आवश्यक है। विवेकानंद का उनके युग और हमारे वर्तमानकाल में क्या अर्थ है, इसे सही रूप में समझने के लिए आवश्यक है कि हम उन्हें केवल आध्यात्मिक गौरव के प्रतीक के रूप में न देखें, बल्कि उनके समय के संघर्षों, चिंताओं और आकांक्षाओं में गहराई से निहित एक विचारक और सुधारक के रूप में समझें और यह सब करते हुए उन्हें न तो निरपेक्ष आदर्श बनाएँ और न ही सापेक्षवादी ढंग से विघटित करें।

*दर्शनशास्त्र विभाग*
*इलाहाबाद विश्वविद्यालय*
*प्रयागराज (उ.प्र.)*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)


## सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी

*Appayya Dīkṣita. (1935). The Siddhāntaleśasaṅgraha of Appayya Dīkṣita: With an English translation (Vol. 1, S. S. Suryanarayana Sastri, Trans.). University of Madras.*

*Badrinath, C. (2006). Swami Vivekananda: The living Vedanta- Penguin Books Limited.*

*Bhuyan, P. R. (2003). Swami Vivekananda: Messiah of resurgent India. Atlantic Publishers and Distributors.*

*Maharaj, A., & Beckerlegge, G. (Eds.). (2021). Swami Vivekananda: His life, legacy, and liberative ethics. Lexington Books.*

*Rangachari, D. (2011). Swami Vivekananda: A man with a vision. Penguin Books Limited.*

*Carrette, J. R., King, R. (2005). Selling Spirituality: The Silent Takeover of Religion. Routledge.*

*Chakrabarti, A. (2021, August 4). 'To a Friend'—Bhagavad Gita & Vivekananda on Friendship [lecture]. Vedanta Society of Southern California.*

*https://www.youtube.com/watch\v¾jVNDB0p9930*

*Chakrabarti, A. (2025, January 12). Swami Vivekananda's Vedānta of Love [Lecture]. ICPR Study Circle, School of Buddhist Studies, Philosophy and Comparative Religions, Nalanda University.*

*https://nalandauniv.edu.in/event/lecture&by&prof&arindam&chakrabarti&on&january&12/*

*Matilal, B. K. (1998). The character of logic in India. State University of New York Press.*

*Medhananda, S. (2020). "Was Swami Vivekananda a Hindu supremacist\Revisiting a long&standing debate". Religions, 11 (7), 368. https://doi.org/10-3390/rel11070368*

*Medhananda, S. (2022). Swami Vivekananda's Vedāntic Cosmopolitanism- Oxford University Press.*

*Mishra, R. (1998). The Integral Advaitism of Sri Aurobindo. Motilal Banarsidass.*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)



*Motilal Banarsidass-.*

*Mukhopadhyay, P. K. (2025). Bhāratīyatākīātmāgaveṣaṇā: ĀdhunikaBhāratakīnirmāṇa&parakprakriyā par nyāyaśāstrīyadṛṣṭi (A conversation between Pradyot Kumar Mukhopadhyay and Udayan Vajpeyi) (UdayanVajpeyi, Trans.). Indian Council of Philosophical Research.*

*Nakamura, H. (1983). A History of Early Vedānta Philosophy- (Edited by Trevor Leggett).*

*Patra, L. (2024). "Swami Vivekananda: An epitome of nationalism"- Journal of Indian Council of Philosophical Researc, 41, 297–315- https://doi.org/10-1007/s40961-024-00324-5*

*Roodurmum, P. S. (2002). Bhāmatī and Vivaraṇa Schools of Advaita Vedānta : A Critical Approach. Motilal Banarsidass Publishers.*

*Satchidanandendra, S. (1997). The method of the Vedanta : a critical account of the Advaita tradition. Motilal Banarsidass.*

*Sharma, J. (2013). A Restatement of Religion : Swami Vivekananda and The Making of Hindu Nationalism. Yale University Press.*

*Sharma, J. (2013a). A Restatement of Religion : Swami Vivekananda and the Making of Hindu Nationalism. Yale University Press.*

*Sharma, J. (2013b). Cosmic Love and Human Apathy : Swami Vivekananda's Restatement of Religion. Harper Collins Publishers India.*

*Sherma, R. D. (Ed.). (2021). Swami Vivekananda: His life, legacy, and liberative ethics. Bloomsbury Academic.*

*Tripathi, R. (2021). Vāda in Theory and Practice: Studies in Debates, Dialogues and Discussions in Indian Intellectual Discourses. D.K. Printworld.*

*Yogīndra, S. (2018). Vedantasara of Sadananda. With the Commentary Balabodhini of Apadeva. Creative Media Partners, LLC.*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आज़ादी का
अमृत महोत्सव

ISSN 0974 0053

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection